जैनधर्म का प्रारम्भिक स्वरूप

इतिहास खोजकर्ताओं द्वारा जब जैनधर्म और हिन्दुधर्म की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में चर्चा की जाती है, तब उनका एक ही घिसा-पिटा उत्तर होता है कि प्राचीन अभिलेखों व साहित्य में इन नामों से किन्हीं धर्मों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता तथा वे यह सिद्ध करते हैं कि

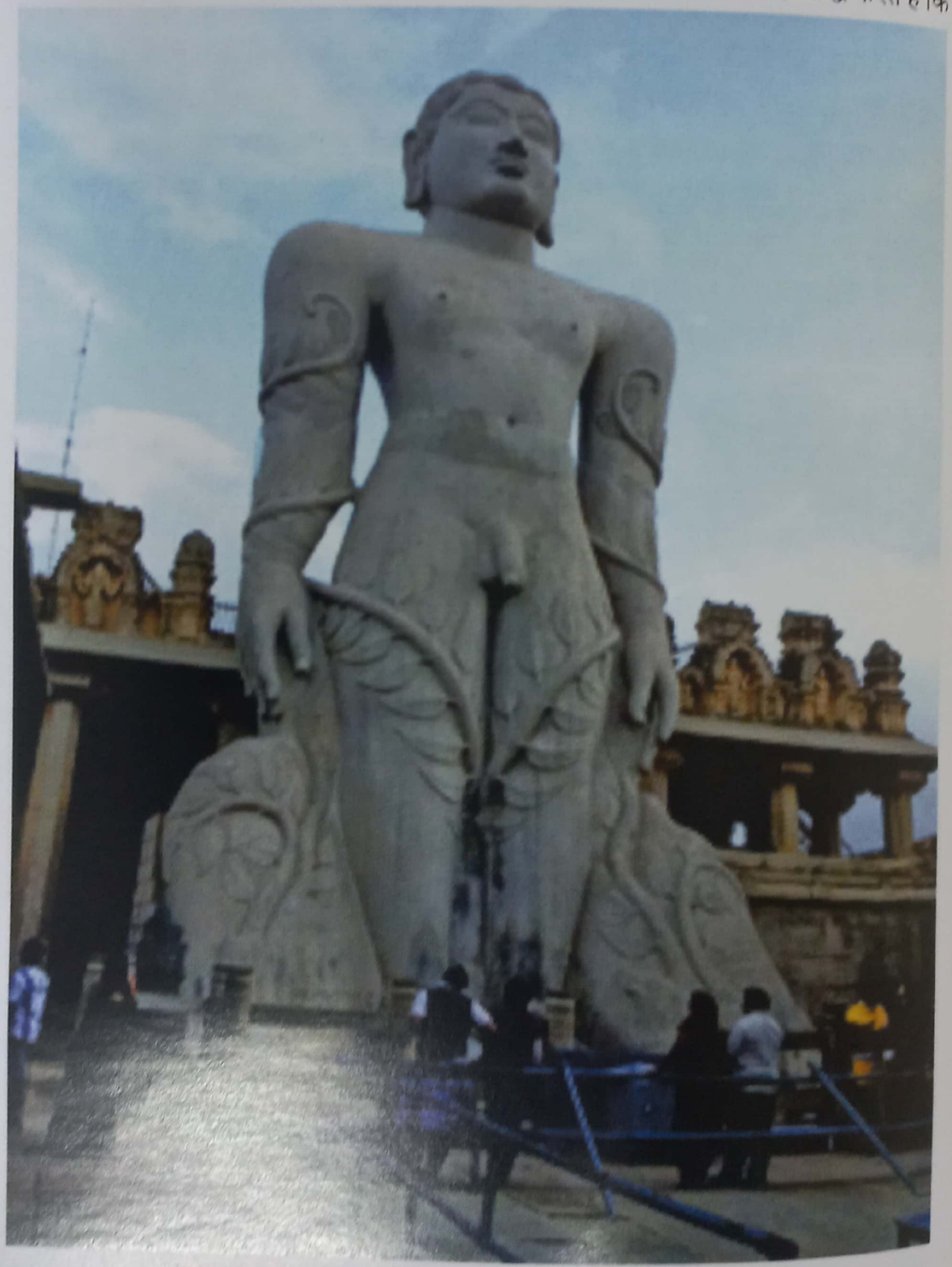

बाहुबली की विश्व प्रसिद्ध मूर्ति श्रवणबेलगोला

इन नामों से ये धर्म वैदिक काल से परवर्ती हैं। वैदिक या हिन्दु विद्वान् इस नाम से अपने धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण उपस्थित कर सफल भी हो जाते है, परन्तु जैन विद्वानों ने इस दिशा में न के बराबर प्रयत्न किये हैं, जो प्रयत्न हुए हैं, वे इतने असफल प्रयत्न हैं कि जैनधर्म की विश्वपटल पर प्राचीनता स्थापित नहीं करा सके। इन धर्मो का प्रारम्भिक रूप क्या था, पुरा समय में ये किस नाम से अभिहित किये जाते थे, इन धर्मो के मानने वालों का मूल उद्गम स्थल क्या था, उनका रहन-सहन, खान-पान सभ्यता कैसी थी, कालान्तर में परस्पर दूसरी संस्कृतियों एवं धर्मो से क्या आदान प्रदान हुआ, परवर्ती समय में वे किन नामों से पहचाने गये आदि प्रश्नों का जब तक प्रमाणिक समाधान उपस्थित नहीं होता तब तक किसी भी धर्म की ऐतिहासिकता के विषय में अटकलें लगाना तर्क संगत नहीं हैं।

यह स्पष्ट है कि जैनधर्म का प्रारम्भिक रूप अहिंसक श्रमण संस्कृति रही है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह स्वीकार किया जाता है कि वृहत्तर भारत में प्राचीन काल से वैदिक और श्रमण संस्कृतियां अस्तित्व में रहीं हैं। श्रमण तथा कतिपय श्रमणेतर विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि श्रमण संस्कृति विषयक अनेक सन्दर्भ वेद एवं वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। यदि यह कथन सत्य है तो यह भी उतना ही प्रमाणिक है कि वेदों से पूर्व श्रमण संस्कृति अवश्य अस्तित्व में रही होगी। मानव संस्कृति और मानव मूल्यों के अस्तित्व के प्रमाणिक स्रोत उत्खनन से प्राप्त सामग्री, सिक्के, वर्तन, औजार, भूमि के विभिन्न प्रयोग, वस्त्र आदि, विभिन्न प्रस्तर, सुवर्ण, ताम्र आदि पर उत्कीर्ण अभिलेख और प्राचीन साहित्य आदि हुआ करते हैं। परन्तु इनसे उतना ही पता चल पाता है, जितनी सामग्री नष्ट होने से बच गई हो अन्यथा नष्ट हुई सामग्री से पुरातात्विक साक्ष्य भी उपलब्ध नहीं हो सकते। क्वेटा संस्कृति, सुमेर, अक्काड, बेबिलोन, मिश्र, सिन्धु सभ्यता, मोहनजोदड़ो हडप्पा प्रभृति संस्कृतियों से अनेक तथ्य उद्घाटित हुए हैं। वहां मानव जीवन से सम्बन्धित आवश्यक सामग्री उपलब्ध होने के साथ यह भी अवगत हुआ है कि वहां के मनुष्यों का और किन किन देशों से सम्बन्ध रहा होगा।

वेदों के पूर्व से ही ऋषियों, मुनियों, महर्षियों प्रभृति में अहिंसक जीवन शैली जिस रूप में भी प्रचलित रही हो या उसे जिस किसी नाम से भी अभिहित किया गया हो उसका सम्बन्ध जैनधर्म से अवश्य रहा है। सामान्य रूप से प्रारम्भिक रूप में जैनधर्म, श्रमण, आर्हत, निर्ग्रन्थ, जिन आदि शब्दों के माध्यम से व्यवहित होता था। शिश्नदेव, वातरशना, हिरण्यगर्भ, केशी, मुनि, व्रात्य, यति, निर्ग्रन्थ, पणि आदि वैदिक साहित्य में उल्लिखित सन्दर्भो का भी सम्बन्ध जैन परम्परा से माना गया है।[34] सभी साक्ष्यों के आधार पर अनेक विद्वान् यह स्वीकार करने लगे हैं कि आर्यो के पूर्व भारत में जो संस्कृति थी उसका सम्बन्ध श्रमण संस्कृति से था। ईसा पूर्व में श्रमणधर्म की उपस्थिति के प्रमाण भारतदेश के बाहर के मिस्र, ग्रीस आदि देशों में भी पाये गये हैं।

Scanned with OKEN Scanner

मूल प्राच्य वैदिक साहित्य से अवगत होता है कि वैदिक पूर्व से ऋषियों की प्रमुख दो विचारधाराएं थीं, उन विचारधाराओं ने कब दो स्वतंत्र वैदिक और श्रमण परम्पराओं का रूप ले लिया, यह प्रामाणिक ढंग से बता पाना कठिन है, पर दोनों परम्पराओं के उपलब्ध साक्ष्यों, शिलालेखों और प्रशस्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि पाणिनी के समय में श्रमण परम्परा इसी नाम से अभिहित की जाती थी। तैत्तिरीय आरण्यक में '**ऋषभः श्रमणाः ऊर्ध्वमंथिनो बभूवुः**' से अवगत होता है कि ऋषभ श्रमण परम्परा का प्रतिनिधित्व करते थे और वातरशन (नग्न) ऋषि श्रमण थे। आश्चर्य है कि पाणिनी ने महावीर व बुद्ध के नामों का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु उन्होंने उनके समकालीन श्रमण परम्परा के आजीवक मस्करी आदि का उल्लेख किया है। सम्भवतः आजीवक पार्श्व परम्परा का प्रतिनिधित्व करते थे, उस परम्परा में उनको मान लिया गया हो। सिन्धुघाटी, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, लोहानीपुर आदि के पुरावशेष एवं खण्डित मूर्तियां ईसवी शती के हजारों वर्ष पूर्व श्रमण परम्परा के होने का संकेत देते हैं। उस समय श्रमण परम्परा का क्या नाम रहा, यह विषय गहन शोध का है। यह भी सम्भव है कि पूर्व में उपास्य इन दिगम्बर मूर्तियों के उपासक प्रारम्भ में एक ही रहे हों अर्थात् उनमें वैदिक और श्रमण जैसा भेद न पाया जाता हो, उत्तरकाल में विचारधाराओं के आधार पर वैदिक पूर्व रही अखण्ड ऋषिपरम्परा वैदिक और श्रमण के रूप में विभाजित हो गई हो और अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने के लिए अनेक नई विचारधाराओं का समावेश कर लिया गया हो।

मूर्तिपूजा का प्रारम्भ

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं कि 'वेदों में मान्य अग्नि, वरुण, इन्द्र, द्यावा-पृथ्वी आदि वैदिक देवताओं की हवि के द्वारा उनकी पूजा की प्रथा थी। सूत्रकाल में स्थानीय या लोक परम्परा से चले आये यक्ष, नाग, भूत, पिशाच, ग्रह, रुद्र, देवी, वृक्ष, नदी, गिरि आदि को देवता मानकर उन्हें भी पूजने की परम्परा चल पड़ी, जिसका परिणाम यह हुआ कि आभिजात्य वर्ग में इनकी विशेष रूप से पूजा होने लगी और वैदिक देवता और यज्ञ आदि की परम्परा से आगे निकल गई। भक्तिधर्म का तीसरा प्रभाव यह हुआ कि पुरुष विशेष देवता के रूप में पूजित हुए। एक ओर बुद्ध और जैनों ने बुद्ध और महावीर की भक्तिधर्म की पूजाविधि और मान्यता का लक्ष्य बनाया और उनके लिए स्तूप आदि चिह्नों की कल्पना करके धर्म का बाह्य रूप खड़ा किया। उसने जनसाधारण के मन को अपनी ओर खींच लिया, दूसरी ओर हिन्दू समाज पर इसका गहरा प्रभाव हुआ। फलतः वासुदेव कृष्ण को देवता मानकर उनकी भक्ति कर आदर्श नये रूप में समाज के सामने आया। बुद्ध और महावीर जैसे क्षत्रिय पुरुष विशेष थे, वैसे ही कृष्ण भी क्षत्रिय विशेष थे, जो क्षत्रिय की संज्ञा थी, वह तत्रभवान् देवता की संज्ञा बन गई। ऐसे देवताओं को मनुष्य प्रकृतिक देव

Scanned with OKEN Scanner

कहते थे, अर्थात् जिनकी मूल प्रकृति मनुष्य की थी, पर जो देवता मान लिए गये थे।[35] इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक परम्परा में मूर्ति पूजा श्रमण परम्परा से आई। पुरातत्वविद डॉ. शुक्ल के अनुसार 'वैदिककालीन आर्यों की पूजापद्धति याग कर्म के रूप में प्रचलित थी, वह वैयक्तिक भी थी, सामूहिक अवसर विशेष पर ही होती थी, वहां असुरों- एतद्देशीय आदिम निवासियों की पूजा प्रतीकोपासना के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। कालान्तर में जब याग बहुल, हिंसा समन्वित वैदिक धर्म के प्रति न केवल आभ्यन्तरिक रूप में वरन् बाह्य रूप में भी-जैनधर्म बौद्धधर्म प्रवर्तन- एक प्रबल विरोध आ खड़ा हुआ तो आर्य पण्डित एवं आर्य मनीषी अपने धर्म के रूप में सहज ही परिवर्तन करने के लिए अग्रसरित हुए। पुराणों और आगमों की रचना हुई। देवपूजा, प्रतिमा प्रतिष्ठा, मन्दिर निर्माण, तीर्थ व्यवस्था आदि सब इसी नवीन ब्राह्मणधर्म के स्वरूप थे। परिणामतः इस युग में विविध देवों की प्रतिमा पूजा तथा उनकी प्रतिष्ठा के लिए विशेष कर विष्णु एवं शिव इन दो महादेवों के देवालयों एवं प्रतिमाओं की स्थापना एवं निर्माण की परम्परा पल्लवित हुई।[36]

पुरातात्विक साक्ष्य

प्रारम्भिक शताब्दियों और उससे पूर्व बृहत्तर भारत में प्रायः जैन श्रमण संस्कृति के ही अधिकांश पुरावशेष प्राप्त होते हैं। इसलिए यह कहना असंगत नहीं होगा कि दक्षिण पूर्व एशिया में हिन्दु और बौद्धधर्म के प्रवेश से पूर्व वहां जैनश्रमण संस्कृति का अवश्य प्रभाव रहा होगा। इस बात के प्रमाण वहां के जनजातियों के धर्म और आचार संहिताओं के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है। हिन्दु और बौद्ध धर्मों से पूर्व वहां जिस 'एनिमिज्म' होने की बात की जाती है, वह जैनधर्म ही था। चौथी शताब्दी से पूर्व के वहां के प्राचीन अवशेष भी इस बात के प्रमाण हैं। इसके बाद वहां इस धर्म का पतन होना शुरु हुआ और दशवीं शताब्दी तक आते आते उनके अधिकांश पुरास्थलों को परिवर्तित कर दिया गया। भारत में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में मिले अवशेषों- नग्नमूर्तियों, गहने, स्वस्तिक, कल्पवृक्ष, सील, त्रिशूल आदि से यह सिद्ध हो चुका है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता जैनधर्म से प्रभावित रही है। टी. एन. रामचन्द्रन ने स्पष्ट लिखा है कि हरप्पा से प्राप्त नग्नधड़ जैन तीर्थङ्करों के हैं।[37] नग्नधड़ वाली यह मूर्ति पटना के लोहानीपुर में खुदाई में प्राप्त जैनमूर्ति के ही समान है। इतिहासज्ञ काशी प्रसाद जायसवाल और ए. बनर्जी ने इसे जैनमूर्ति होना स्वीकार किया है।[38] डॉ. प्राणनाथ द्वारा एक मुहर पर अंकित शब्द को जिनेश्वर पढा गया है। ईसवी के प्रारम्भिक काल कुषान काल की अनेक जैन प्रतिमाएं प्राप्त होती हैं। इस काल की मूर्तियां प्रायः एक जैसी पायी जाती हैं। गुप्तकालीन मूर्तियां मथुरा, चौसा और अकोटा से प्राप्त हुई हैं। वक्षस्थल पर श्रीवत्स के अंकन का प्रारम्भ मध्यकाल से प्रारम्भ हुआ। उत्खनन से प्राप्त मौर्यकाल की सबसे प्राचीन प्रतिमा लोहानीपुर से प्राप्त हुई थी, जो पटना म्युजियम में रखी हुई है। ढाका, लाहौर, मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि के संग्रहालयों में

Scanned with OKEN Scanner

अनेक प्राचीन मूर्तियां दृष्टव्य हैं। इनमें अनेक मूर्तियां गुप्तकालीन हैं। इतिहासकार श्री रायकृष्णदास के अनुसार मथुरा की शुंगकालीन कलाम मुख्यत: जैन सम्प्रदाय की है।[39] ईसा पूर्व 188-30 तक की खण्डगिरि और उदयगिरि की शुंगकालीन मूर्तिशिल्प कला अपने उत्कृष्ट स्वरूप को प्रदर्शित करता है। यहां लगभग इस काल की काटी गई सौ गुफाएं है, जिनमें मूर्ति शिल्प भी है। दक्षिण भारत के अलगामलै नामक स्थान में खुदाई से प्राप्त मूर्तियों का काल ईसा पूर्व 300-200 वर्ष अनुमान किया जाता है।[40] सम्प्रति उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिलान्तर्गत नवागढ़ (नाबई)में प्राप्त गुफाओं में शैलचित्र, शिलालेख आदि के आधार पर पुरातत्वविदों ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह स्थान जैनसंस्कृति के प्रागैतिहासिक काल का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक साहित्य के उल्लेख

स्पष्ट है कि नाम जो कुछ भी रहा हो, जैनधर्म अपने अभ्युदय काल में अहिंसामूलक और निवृत्तिपरक धर्म के रूप में हजारों वर्ष पूर्व से विद्यमान था। ऋषभदेव जिसके आद्य प्रवर्तक थे। वातरशन जैसे श्रमण संस्कृति के ऊर्ध्वमन्थी मुनिवरों ने वैदिक काल के पूर्व से ही जिसे दृढ़ता प्रदान की। तैत्तिरीयारण्यक में वातरशन को ऋषभ, श्रमण और ऊर्ध्वमन्थिन कहा गया है।[41] सदियों से वह धर्म आर्हत, जिन, निर्ग्रन्थ प्रभृति नामों से यात्रा करता हुआ आज वह जैनधर्म के रूप में अहिंसा का सन्देश सम्पूर्ण विश्व को प्रदान कर रहा है। इतिहासकार भले ही उसको बाद का स्वीकार करें, परन्तु श्रमण और श्रमणेतर दोनों परम्पराओं के साहित्यिक सन्दर्भ इसकी प्राचीनता को सिद्ध करते ही हैं। जैनधर्म के आद्य तीर्थङ्कर ऋषभ या वृषभ हैं। सामान्य रूप से ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं।[42] जिनका अर्थ श्रेष्ठ किया गया है[43] अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष।[44] विश्व के प्राचीनमत साहित्य में वेदों की गणना की जाती है। इनमें सर्वाधिक प्राचीन माने जाने वाले ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर 'ऋषभ' व 'वृषभ' शब्द का प्रयोग हुआ है। व्याख्याकारों ने यद्यपि इनका अर्थ जैन तीर्थङ्कर या व्यक्तिपरक न करके अन्य अर्थ भी किये हैं,[45] तथापि उन शब्दों में अन्तर्निहित भाव जैन तीर्थङ्कर ऋषभदेव सिद्ध करने में समर्थ हैं।[46] कतिपय उदाहरण यहां दृष्टव्य हैं-

चत्वारिशृङ्गात्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्या आ विवेश।।[47]

'चार (अनुयोग) इसके शृङ्ग-प्रकाशमान किरण स्वरूप हैं, तीन (रत्नत्रय) इसके चरण हैं। दो (धर्म एवं शुक्लध्यान) इसके शीर्ष हैं तथा सात (तत्त्व) इसके हांथ हैं। तीन (मन, वचन और काय) से संयत ऋषभ ने घोषणा की है कि परमात्मा मर्त्यो में बसता है।

'असूत पूर्वो वृषभो ज्यायानिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वी।
दिवो नपाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे।।[48]

Scanned with OKEN Scanner

'जिस प्रकार जल से भरा मेघ वर्षा का प्रमुख स्रोत है और भूमि की प्यास बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वज्ञानधारी वृषभ महान् हैं, उनका शासन वर दे। उनके शासन में पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो, दोनों आत्माएं (संसारी एवं मुक्त) अपने आत्म गुणों से चमकती हैं। अत: वही राजा है, वे पूर्व ज्ञान के आगार हैं और आत्मपतन नहीं होने देते हैं।'

ऋग्वेद के और भी अधोलिखित मन्त्र देखे जा सकते हैं, जिनसे ऋषभदेव परक अर्थ निकाला जा सकता है-

अनर्वाणं **वृषभं** मन्द्रजिह्वं वृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।
गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा अशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ता।। - ऋग्वेद, 1/190/1

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहितम्।
हन्तां शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्।। - ऋग्वेद, 10/166/1

ककर्दवे **वृषभो** युक्तः आसीदवावचीत्सारथिरस्य केशी।
दुधे युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलीनाम्।- ऋग्वेद, 10/102/6

आ नो गोत्रा दर्दृहि गोपते गाः समस्मभ्यं सनयो यन्तु वाजाः।
दिवक्षाअसि **वृषभ** सत्य शुष्मोऽस्मभ्यं सु मघवन्बोधि गोदाः।।-ऋग्वेद, 3/31/21

त्वं रथं प्र भरो योधमृष्वमावो युध्यन्तं **वृषभं** दशद्युम्।
त्वं तुग्रं वेतसवे सचाहन्त्वं तुजिं गृणन्तमिन्द्र तूतोः।। - ऋग्वेद, 6/26/4

एवारे **वृषभा** सुतेऽसिन्वन्भूर्यावयः।
श्वघ्नीव निवता चरन्।। - ऋग्वेद, 8/45/38

प्राग्नये वाचमीरय **वृषभाय** क्षितीनाम्।
स नः पर्षदति द्विशः।। - ऋग्वेद, 10/187/1

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तवश्रियम्।
वृषभो द्युम्नवां असि समध्वरेष्विध्यसे।। - ऋग्वेद, 5/28/4

मरुत्वन्तं **वृषभं** वावृधानमकवारिं दिव्य शासमिन्द्रम्।
विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह तं हुवेम।। - ऋग्वेद, 6/19/11

ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में प्रयुक्त शिश्नदेव, वातरशना मुनि, एवं केशी आदि के उल्लेखों से भी ऋषभदेव अर्थ प्रतीत होता है।[49] वातरशना शब्द तो स्पष्ट रूप से जैन श्रमणों के लिए ही प्रयक्त हुआ है, क्योंकि इसकी पुष्टि परवर्ती जैन[50] और जैनेतर साहित्य के

Scanned with OKEN Scanner

सन्दर्भों से भी होती है।[51] वातरशना का अर्थ वायु की मेखला जिनकी है ऐसे दिगम्बर मुनि होता है। ऋग्वेद के केशी सूक्त की ऋचाओं के वर्णन से स्पष्ट है कि वह सूक्त श्रमण परम्परा के ऋषभदेव के लिए ही लिखा गया है।[52] इन मंत्रों में पाये जाने वाले वातरशन, केशी, पिशंग, मौनेय आदि शब्दों से स्पष्ट होता है कि ये शब्द दिगम्बर मुनि की चर्या के अभिन्न अंग के रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। इनके ऋषि जूति, वातजूति, विप्रजूति, वृशाणक, करिक्रत, एतश और ऋष्यशृङ्ग कहे गये हैं। इनके सायणकृत भाष्य से अवगत होता है कि केतु, अरुण और वातरशन नाम के ये तीन अप्रमत्त ऋषियों के संघ थे। श्रीमद्भागवत के निम्न कथन से पूर्णरूपेण स्पष्ट होता है कि वातरशन मुनिसंघ अन्त समय तक उस श्रमण संस्कृति का संवाहक बना रहा, जिस धर्म का प्रवर्तन ऋषभ ने किया था। धर्मान् दर्शयितु कामो वातरशनानां श्रमणानामृशीणामूर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनूवावतार।[53] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र यह भी उल्लेख किया गया है कि ऋषभ के नौ पुत्र भी आत्मविद्या के विशारद वातरशन श्रमण बने थे। नवाभवन् महाभागा: मुनयो ह्यर्थशंशिन: श्रमणा वातरशना, आत्मविद्या विशारदा:।।[54]

वैदिक पुराण ग्रन्थों में जैनधर्म के लिए आर्हत नाम से अभिहित किया गया है।[55] दार्शनिक ग्रन्थों में भी आर्हतदर्शन के रूप में जैनदर्शन का प्रतिपादन प्राप्त होता है।[56] मत्स्यपुराण में जिनधर्म और देवी भागवत में जैनधर्म का उल्लेख हुआ है।[57] आचार्य सायण ने निर्ग्रन्थ शब्द का उल्लेख करते हुए लिखा है- कन्या कौपीनोत्तरासंगणदीनां त्यागिनो यथाजात रूपधरा: निर्ग्रन्था: निष्परिग्रहा: इति संवर्तश्रुति:।[58] बौद्ध साहित्य में अनेक स्थान पर भगवान् महावीर के लिए निगण्ठ शब्द का प्रयोग कर सम्बोधित किय गया है। अशोक के शिलालेखों में 'इमे वियापटा होहन्ति निग्गंठेसु पि मे कटे' के रूप में निर्ग्रन्थ शब्द का उल्लेख किया गया है।[59] 'अष्टाध्यायी के सूत्रों में श्रमण और अविवाहित स्त्री श्रमणों का उल्लेख है, जिन्हें कुमार श्रमणा-कुमारी श्रमणा कहा जाता था।[60] उन सूत्रों में कुमार श्रमणा शब्द को आद्युदात्त कहा है। श्रमणादि गण में कुमार प्रव्रजिता और कुमारी तापसी का पाठ भी है। श्रौत्रसूत्रों में श्रमण का प्रयोग भिक्षुमात्र के लिए है। बौधायन में मुनि को श्रमण कहा है।[61] पतंजलि ने श्रमण को ब्राह्मण का उल्टा माना है और दोनों में कभी न मिटने वाला बैर बताया है।[62] जैनसाहित्य में भगवान् ऋषभदेव को वृषभ, शिव, प्रजापति, पुरुदेव, इक्ष्वाकु, स्वयम्भू, हिरण्यगर्भ आदि नामों से भी अभिहित किया गया है।[63] ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में भी हिरण्यगर्भ और प्रजापति की स्तुति की गई है, जो स्पष्ट रूप से ऋषभदेवपरक हो सकती है।[64]

वेदों में आये व्रात्य को भी दिगम्बर मुनि परम्परा से जोड़ा जाता है क्योंकि वैदिक साहित्य में उनका जैसा वर्णन किया गया है वह पूर्णतया जैनसंस्कृति से मेल खाता है। वस्तुत: इसकी व्याख्या कुछ भी की जाये पर व्रात्य का सामान्य अर्थ है, जो व्रतों में स्थित हो

Scanned with OKEN Scanner

वह व्रात्य है। ऐसे जैन श्रमण ही होते थे। अथर्ववेद में व्रात्य अतिथि का विशेष सम्मान करने का उल्लेख किया गया है।[65] उपनिषद साहित्य में भी व्रात्यों की प्रशंसा की गई है-'व्रात्यस्त्वं प्राणैक शिरत्ता विश्वस्य सत्यपतिः।[66] शंकराचार्य ने इसके भाष्य में व्रात्य का अर्थ 'स्वभावतः एव शुद्धः' लिखकर स्वभाव से ही शुद्ध किया है। वस्तुतः व्रात्य श्रमण साधु थे, जिन्हें वैदिक याज्ञिक संस्कृति वाले अपना विरोधी समझकर भी उनकी विशुद्ध चर्या के कारण अतिथि के रूप में उनके प्रति सम्मान का भाव रखते थे। परवर्ती वैदिक साहित्य में व्रात्यों के प्रति इतना उपेक्षा भाव उत्पन्न हुआ कि उनहें संस्कारहीन, समाज में व्यवहार के अयोग्य आदि कहकर उनके नाम को नरमेध बलि तक में संयुक्त कर दिया गया।[67] इन सब के आधार पर हेमचन्द्र जैसे जैनाचार्यों ने व्रात्य शब्द की 'व्रात्यः संस्कारवर्जितः। व्रते साधुः कालो व्रात्यः, तत्र भावो व्रात्यः, प्रायश्चित्तार्हः संस्कारोत्र उपनयनं तेन वर्जितः[68] व्युत्पत्ति कर व्रात्यों को संस्कार विहीन बताकर उनकी निन्दा की और उन्हें अनेक सामाजिक कर्मों के करने का निरोध किया। वेदों के उल्लेखानुसार व्रात्यों का निवास कीकट और मगध बताया गया है।[69] यास्क ने इसे अनार्यों का देश लिखा है। मनुस्मृति में लिच्छवी, नाथ और मल्लों को व्रात्य कहा गया है।[70] ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह सिद्ध है कि ये सभी जातियां जैन धर्मानुयायी रही हैं। इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल से ही मगध श्रमण संस्कृति का गढ़ रहा है और वहां तथा उसके पार्श्ववर्ती क्षेत्रों के अधिकांश निवासी श्रमण संस्कृति के संवाहक रहे होंगे। ऋषभदेव के अनेक नाम वैदिक परम्परा के ब्रह्मा, विष्णु और महेश के नामों से भी मिलते हैं।[71] आदमबाबा, रोकशव, बाडआल, रेशेफ आदि नाम भी ऋषभदेव के लिए प्रयुक्त होते हैं। इन सभी सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि ऋषभदेव की अहिंसक परम्परा वैदिक पूर्व काल से विद्यमान थी।

ऋषभदेव और शिव

भारत सहित दक्षिण पूर्व एशिया में शिव, नाम का वाचक होने के साथ अवस्था व गुण सूचक भी माना गया है। जैसे कहा जाता है कि शिवत्व प्राप्ति, शिवलोक, शिवधाम, शिवगति आदि। शैव और श्रमण दोनों परम्पराओं में शिव का अवस्था व गुण सूचक अर्थ समान रूप से स्वीकार किया गया है। कम्बोडिया और इण्डोनेशिया आदि देशों में प्राप्त शिलालेखों में उल्लिखित शिवत्व प्राति के सन्दर्भों से इस निर्णय पर पहुंचना कठिन होता है कि यह किस परम्परा का है? इसलिए यह स्वाभाविक है कि जब तक किसी परम्परा के समर्थन में ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हो जाता है, तब तक उसे कोई भी परम्परा अपने अनुकूल मानने के लिए स्वतंत्र होती है। पुरातात्विक और साहित्यिक अभिलेखों के आधार पर कभी कभी स्पष्ट रूप में यह प्रतीत होता है कि ऋषभदेव और शिव एक ही होना चाहिए। उपासना की दृष्टि से धीरे धीरे भक्तों ने अपने अनुकूल उनके स्वरूप और आकृति में बदलाव कर लिया होगा।

Scanned with OKEN Scanner

ऐसा होते हुए भी अब भी दोनों के सामान्य स्वरूप में समानता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। ऋषभदेव और शिव की विशेषताओं का मिलान करने से अवगत होता है कि दोनों का साधना क्षेत्र कैलाश पर्वत रहा है, दोनों के जटाएं पाई जाती हैं,[72] दोनों निवृत्ति मार्ग के पोषक हैं, दोनों की प्राचीन मूर्तियों में बैल का चिह्न अंकित है। शिव त्रिशूलधारी हैं, ऋषभदेव भी रत्नत्रयरूप कर्मविनाशक त्रिशूल के धारी है। अवगत हो कि उदयगिरि-खण्डगिरि की जैन गुफाओं, मथुरा के कंकाली टीले के जैन आयागपट्टों और मोहनजोदड़ो की मुहरों पर त्रिशूल चिह्नों का अंकन है। वस्तुतः त्रिशूल जैन परम्परा में रत्नत्रय का प्रतिनिधित्व करता है। शिव के ललाट पर अर्द्धचन्द्र है, ऋषभदेव की अर्हन्त अवस्था में अर्द्धचन्द्ररूप सिद्धशिला इस अवस्था के बाद प्राप्त होने वाली अवस्था का द्योतक है। जैन आचार्यों ने गंगावतरण, शिवरात्रि आादि का सम्बन्ध भी ऋषभदेव के साथ बैठाने का प्रयत्न किया है।[73]

भारतवर्ष और द्वीप, द्वीपान्तर

वैदिक और श्रमण दोनों के साहित्य में द्वीप, द्वीपान्तरों, देश, देशान्तरों, समुद्रों, नदियों, जनपदों और नगरों के उल्लेख पाये जाते हैं। देश और काल के अनुसार उनका क्षेत्र बटता चला गया और वे विखण्डित होकर स्वतंत्र अभिधान से पहचाने जाने लगे। यही बृहद् भारत के साथ भी हुआ और उसके पुराकालीन अनेक हिस्से पृथक होकर स्वतंत्र देश बन गये। जैन शास्त्रों के अनुसार जम्बूद्वीप आदि शुभ नाम वाले द्वीप और लवणोद आदि शुभ नाम वाले समुद्र हैं।[74] इसका विशेष वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रन्थों में देखा जा सकता है। उनके अनुसार मनुष्य जिस लोक में निवास करते हैं उसका नाम मध्य लोक हैं। मध्यलोक में पहला द्वीप जम्बूद्वीप है। इसमें अकृत्रिम जम्बूवृक्ष पाये जाने के कारण इसका नाम जम्बूद्वीप पड़ा। मध्यलोक में जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकीखण्ड, कालोद समुद्र, पुष्करवरद्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणीवरद्वीप, वारुणीवरसमुद्र, क्षीरवरद्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवरद्वीप, घृतवर समुद्र, इक्षुवरद्वीप, इक्षुवर समुद्र, नन्दीवर द्वीप, नन्दीवर समुद्र, अरुणवर द्वीप, अरुणवर समुद्र आदि स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त असंख्यात द्वीप और समुद्र बताये गये हैं। इसके मध्य में गोल और एक लाख योजन विष्कम्भ वाला जम्बूद्वीप अवस्थित है, जिसके मध्य मेरु पर्वत है।[75] इसके भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवर्ष और ऐरावतवर्ष ये सात क्षेत्र बताये गये हैं।[76] बौद्ध साहित्य में जम्बूद्वीप का विस्तार दश हजार योजन बताया गया है।[77]

अबुलफजल ने कुछ द्वीपों का नामकरण जाति, जनपद और देशों के नाम से हुआ सिद्ध किया है। उनके अनुसार सभी द्वीपों का अस्तित्व एशिया के अन्तर्गत ही सम्भावित है। जैसे आधुनिक काबुल प्लक्षद्वीप है, श्रीनगर के दक्षिण में अवस्थित कनिष्कपुर

Scanned with OKEN Scanner

कुशद्वीप है, ईरान में स्थित सेइस्तान शाकद्वीप का अपभ्रंश नाम है और पुष्करद्वीप को चीन और मंगोलिया के बीच में सम्भावित किया हैं।[78] कुछ विद्वानों ने सात द्वीपों के नामान्तरों में जम्बूद्वीप (यूरोप- एशिया), शाकद्वीप (आष्ट्रेलिया) कुशद्वीप (दक्षिण अमेरिका), क्रौंच द्वीप (उत्तरी अमेरिका), शाल्मलिद्वीप (ग्रीन लैण्ड), प्लक्षद्वीप (विक्टोरिया लैण्ड) और पुष्कर द्वीप (अफ्रीका) माना है।[79]

पुराणों में भारत का विभाजन नौ खण्डों में किया गया है- 1,इन्द्रद्वीप, 2,कसेरुद्वीप, 3,ताम्रपर्णी, 4,गभस्तिमान, 5,नागद्वीप, 6,सौम्यद्वीप, 7,गान्धर्वद्वीप, 8,वरुणद्वीप और 9,समुद्रों से घिरा हुआ भारतवर्ष।[80] काव्यमीमांसा में नवम द्वीप का नाम कुमारी द्वीप प्राप्त होता है। प्रो.मजुमदार इसको ही भारतवर्ष मानते हैं। डॉ. लाहा ने इसका समर्थन किया है और लिखा है कि कुमारी द्वीप- भारतवर्ष को छोड़कर बाकी बृहत्तर भारत के भाग हैं।[81] डॉ. भरतसिंह उपाध्याय ने अनेक सन्दर्भ प्रस्तुत कर लिखा है कि 'बौद्ध संस्कृत साहित्य में जम्बूद्वीप या भारत का एक नाम इन्द्रवर्द्धन भी है। जम्बूद्वीप का चीनी रूपान्तर 'चम्पु' है।[82]

वर्तमान में भारत, हिन्दुस्तान और इण्डिया, ये नाम एक देश के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं, जिसकी राजनैतिक सीमाएं- समुद्री सीमाएं हिन्दमहासागर में दक्षिण-पश्चिम में मालद्वीप, दक्षिण में श्रीलंका और दक्षिणपूर्व में इण्डोनेशिया से स्पर्श करती हैं। इसके पूर्व में बंगाल की खाड़ी और पश्चिम में अरब सागर है। उत्तर में हिमालय पर्वत अवस्थित है। स्थलीय सीमाओं से पश्चिम में पाकिस्तान, उत्तरपूर्व में चीन-नेपाल और भूटान तथा पूर्व में बांगलादेश और म्यांमार हैं। प्राचीन काल में जब इस देश की सीमाओं के अन्तर्गत वर्तमान के प्राय: सभी सीमावर्ती क्षेत्र या देश समाहित थे, उस समय इस देश को अजनाभ, आर्यावर्त और भारतवर्ष नामों से भी अभिहित किया जाता रहा है। इण्डिया और हिन्दुस्तान नाम के विषय में यह अवधारणा है कि सिन्धु नदी के अंग्रेजी नाम 'इण्डस' के नाम पर इण्डिया नाम दिया गया है। हिन्दुस्तान नाम के विषय में यह कहा जाता है कि 'हिन्दु' शब्द 'सिन्धु' नदी का ही परिवर्तित रूप है, जिसके नाम से हिन्दुस्तान नाम पड़ा। एक मान्यता यह भी है कि जेन्द-अवेस्ता में पाये जाने वाले हिन्द शब्द के आधार पर हिन्दुस्तान बना।

जैन और वैदिक परम्पराओं में यह तो स्वीकार किया जाता है कि भारत देश का नाम भरत के नाम से पड़ा है, पर ये भरत कौन से थे, इसमें मत भिन्नता पाई जाती है। जैन परम्परा के अनुसार यह स्वीकार किया जाता है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ देव के पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा।[83] वैदिक परम्परा में दो मत दृष्टिगोचर होते हैं, एक मत के अनुसार राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम से भारत नाम पड़ा।[84] वहीं दूसरी ओर यह भी उल्लेख मिलता है कि आठवें अवतार ऋषभदेव के समय तक भारतवर्ष का नाम 'अजनाभखण्ड' था[85], (अजनाभ, ऋषभदेव के पिता नाभिराज को कहा गया है) परन्तु ऋषभदेव के ज्यष्ठ पुत्र महायोगी भरत के राज्यसिंहासन पर बैठने के पश्चात् उनके

Scanned with OKEN Scanner

नाम से इस भूभाग का नाम भारतवर्ष हो गया।[86] मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि 'आग्नीध्र के पुत्र नाभि और नाभि के पुत्र ऋषभ थे, जिनके सौ पुत्र हुए जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। ऋषभ ने भरत का राज्याभिषेक कर स्वयं पुलहाश्रम तप करने चले गये। उनके द्वारा भरत को हिमालय से दक्षिण तक का राज्य दिया गया, जिनके नाम से भारतवर्ष विश्रुत हुआ।- अग्निन्ध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः। ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशतात् वरः।। सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः। तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रम संश्रयः। हिमाह्वयं दक्षिणं वर्ष भरताय पिता ददौ। तस्मात्तु भारतं वर्ष तस्य नाम्ना महात्मनः।।[87] विष्णुपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण आदि पुराणों में भी इसी का समर्थन होता है। दुष्यन्त पुत्र भरत का पुरुवंश, चन्द्रवंश परम्परा का माना जाता है।[88] जबकि ऋषभ पुत्र भरत के वंश का सम्बन्ध अयोध्या की वंश परम्परा से है, जो पुरु से हजारों वर्ष पूर्व से चला आ रहा था। जैन आगमों के प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरतक्षेत्र और भरतक्षेत्र के अन्तर्गत भारतवर्ष था। जम्बूद्वीपपण्णत्ति में उल्लेख है कि 'भरतनाम्न चक्रिणो देवाच्च भारतनाम प्रवृत्तं भरतवर्षाच्च तयोर्नाम।' अर्थात् भरत चक्रवर्ती और देव के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ और भारतवर्ष से उनका।[89] अनेक इतिहासकार भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि ऋषभ पुत्र के नाम से ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है।[90] इसलिए दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष मानने की अपेक्षा ऋषभ के पुत्र भरत के नाम से स्वीकार करना अधिक प्रामाणिक है।

पूर्व समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक विस्तृत एवं जिसकी सीमाएं उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्य से लगती थीं, उस देश को आर्यावर्त के नाम से अभिहित किया गया है। 'आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात्। तयोरेवांतर गिर्योः आर्यावर्त विदुर्बुधाः।'[91] आर्यावर्त नाम से ही यह स्पष्ट होता है कि यहां इसका मन्तव्य आर्यों के देश से है। अवगत हो कि इस देश के मूल निवासी आर्य थे व अनार्य, इस विषय में विद्वानों में अनेक विप्रतिपत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं, जिनमें कुछ इतिहासकारों ने अनेक वैदिक सन्दर्भों के आधार पर यह अनुमान किया है कि अहिंसक श्रमण संस्कृति का सम्बन्ध इस देश के मूल निवासी अनार्यों से रहा होगा। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इस देश का आर्यावर्त नाम इस देश में आर्यों के आधिपत्य के बाद दिया गया होगा। 'आर्य' शब्द को स्पष्ट करते हुए वी. एस. आप्टे ने लिखा है कि आर्य सभ्य और बुद्धिमान व्यक्ति के लिए प्रयोग में आता है तथा यह शब्द हिन्दु और ईरानियन लोगों के लिए अनार्यों- दस्यु, दास आदि से पृथक् करने के लिए प्रयुक्त होता है।

आर्य और अनार्य

ऋग्वेद और श्रमण आगमिक साहित्य में आर्य शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। वृहत्तर भारत के मूल निवासी कौन थे आर्य या अनार्य व आर्येतर इन अनसुलझे प्रश्नों को विभिन्न

Scanned with OKEN Scanner

सभ्यताओं और साहित्योल्लेखों के माध्यम से विद्वानों ने सुलझाने के अवश्य प्रयत्न किये हैं। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने 'आर्यों का आदि देश' नामक ग्रन्थ में, पाश्चात्यों द्वारा माने गये आर्यों का आदि निवास एशिया माइनर, और लो0 तिलक द्वारा माने गये उत्तरीय ध्रुव प्रदेश आदि की ऋग्वेद के अनेक अन्तःसाक्ष्य उपस्थित कर आर्यों का निवास 'सप्त सिन्धव' सिद्ध किया हैं।[92] स्टुअर्ट पिगट, डब्ल्यू. एफ. लीमान्स, मेके, फूशे आदि विद्वानों के आधार पर कुछ विचारकों ने लिखा है कि ईसा पूर्व 1500 के आसपास एक नई जाति उत्तर पश्चिम में घुसी, जिसने पुरानी वस्तियों को बरबाद करके नई वस्तियां बनाई। शायद इन नये आने वालों का सम्बन्ध आर्यों से रहा हो। ईरान और भारत में तो आर्यों के अवशेष केवल मौखिक अनुश्रुतियों द्वारा बचे अवेस्ता और ऋग्वेद में हैं। ऋग्वेद के आधार पर ही हम आर्यों की भौतिक संस्कृति की एक तसवीर खड़ी कर सकते हैं। ऋग्वेद का समय अधिकतर संस्कृत विद्वानों ने ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी का मध्य भाग माना है। करीब करीब इसी समय उत्तर पश्चिम से आक्रमणकारी, चाहे वे आर्य रहे हों या नहीं, भारत में घुसे। ऋग्वेद से पता चलता है कि इन आर्यों की दासों से लड़ाई हुई, जिन्हें ऋग्वेद में बहुत कुछ भला बुरा कहा गया है। इतना होते हुए भी यह बात तो साफ ही है कि आर्यों से लड़ने वाले दास बर्बर न होकर सभ्य थे और वे किलों में रहने वाले थे। इन दासों को नये जोश वाले आर्यों का सामना करना पड़ा। धीरे धीरे आर्यों ने दासों के नगरों को नष्ट कर दिया। फिर भी उस प्राचीन संस्कृति की बहुत सी बातों को आर्यों ने अपनाया, जिनमें जड़ पदार्थों की पूजा इत्यादि बहुत से धार्मिक विश्वास भी सम्मिलित हैं।[93] फूशे के अनुसार आर्य बलख से हिन्दुकुश होते हुए भारत आये[94] वेबर के अनुसार आर्यों की बस्तियां पंजाब से सरस्वती तक फैली हुई थीं, बाद में उनकी बस्तियां कोसलों और विदेहों की प्राकृतिक सीमा सदानीरा तक बढी।[95] वैदिक युग के आर्य, पणि जाति के व्यापारियों के साथ अच्छा व्यवहार नही करते थे। वे उन्हें वैदिक यज्ञों का विरोधी मानते थे।[96] आर. शेफर मनुस्मृति में पाये जाने वाले शब्द व्रात्य, पुरु आदि जैसे सम्बोधनों के आधार पर उन्हें आर्यों से पूर्व के आनार्य लोग मानने के पक्ष में हैं।[97] 'हरप्पा' और 'मोहनजोदड़ो' की खुदाई कराने वाले और 'इण्डो-सुमेरियन सील्स डिसाइफर्ड' के लेखक एल. ए. वैडल ने लिखा है कि 'इराक की सुमर जाति (अनार्य) ने ही आर्यों को सभ्य बनाया। उनके 'एदिन' शब्द से ही सिन्धु शब्द बना है।' मैकडानल ने अपनी पुस्तक वैदिक म्यथोलोजी में असभ्य और बर्बर लिखा है।[98]

कुछ विद्वानों ने लिखा है कि 'साईबेरिया के घने जंगलों के दक्षिणी व मध्य एशिया के पठारों के उत्तर और पूर्व में समुद्रपर्यन्त के स्थल के मध्य आर्य पद्धति का उद्गम हुआ। सबसे पहले यूरोपार्य प्रायः 4500 वर्ष पूर्व यूरोप में गये और धीरे धीरे दक्षिण यूरोप की ओर बढ़कर 3200 वर्ष पूर्व यूनान और भूमध्य सागर पर सैनिक विजय प्राप्त कर अपनी

Scanned with OKEN Scanner

राजनीतिक शक्ति स्थापित की। प्राय: 4000 साल पूर्व पश्चिम एशिया के सीमान्त पर आये। चतुर्थ सहस्राब्दि में उन्होंने पश्चिमी एशिया पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया। सबसे अन्त में ब्रह्मार्य भारत की तरफ आये और 3100 वर्ष पूर्व दाशराज महायुद्ध में विजयी होकर पश्चिमी भारत में वे ब्रह्मावर्त के नाम से अपना उपनिवेश स्थापित करने में सफल हुए।'' आर्यों की मूल संस्कृति हिंसा और शोषण पर आधारित थी। ऋग्वेद में आर्य शब्द का प्रयोग हर स्थल पर नग्न हिंसा और नग्न शोषण के सन्दर्भ में हुआ है।[99] यहां यह भी जानना आवश्यक है कि आर्यों का श्रमणीकरण कैसे और कब हुआ? इस पर भी अपना अभिमत प्रगट करते हुए लिखा है कि ' बुद्ध और महावीर से पूर्व के उपनिषदों में ऐतरेय, कौषीतकी, छान्दोग्य व बृहदारण्यक में भी आर्य शब्द का प्रयोग बिल्कुल नहीं हुआ है। इनके अलावा बाकी सब उपनिषद महावीर युग के बाद के हैं।[100] इस पर यह अनुमान किया जाता है कि ब्रह्मार्यों में आर्य शब्द प्रभावशाली नहीं रहा। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग निरन्तर बढता गया, जिससे वैदिक संस्कृति में पार्श्व के युग में आर्य शब्द के उपयोग का लोप हो गया और पार्श्व के युग में हिंसा और शोषण पर आधारित ब्रह्मार्य संस्कृति पर श्रमण संस्कृति पूर्ण रूप से विजयी हो गयी तथा हिंसा और शोषण से सम्बन्धित आर्य शब्द निराहत हो गया।[101] तीर्थङ्कर महावीर और तथागत बुद्ध तीर्थङ्कर पार्श्व की श्रमण संस्कृति के उत्तराधिकारी बने। तीर्थङ्कर महावीर मूल रूप में कायम रहे और पार्श्व के चातुर्याम में बहुत थोड़ा परिवर्तन किया। तथागत बुद्ध ने भी पार्श्व के चातुर्याम को स्वीकार किया।[102] किन्तु उन्होंने उसे चार आर्यसत्यों की आधारशिला दी। बुद्ध और महावीर ने आर्य शब्द का श्रमणीकरण किया और उन्होंने आर्य शब्द को अहिंसा और सत्य से जोड़ दिया।[103]

वैदिक सन्दर्भो से स्पष्ट है कि दस्यु, पणि, व्रात्य, मौन आदि अनार्य व्यापारी थे। यही कारण है कि वेद मन्त्रों में इन व्यापारियों का वर्णन घृणित रूप से किया गया है। उन्हें शत्रु और गुलाम तक कहा गया है। जिस समय आर्यों का पदार्पण भारत में हुआ, उस समय अधिकतर व्यापार सिन्धु घाटी, हडप्पा और बलूचिस्तान के व्यापारियों के हांथों में था। इतिहासज्ञों का मानना है कि वेदों में इन्हीं व्यापारियों का संकेत है, जो वैदिक धर्म को नहीं मानते थे, इसलिए आर्यों का उनपर रोष था।[104] सिन्धुघाटी, मोहनजोदरो और हरप्पा में उत्खनन से प्राप्त नग्न मूर्तियां एवं अनेक ऐसी पुरातात्विक वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, जिनसे यह भलीभांति सिद्ध है कि आर्यों के आगमन से पूर्व वहां श्रमण संस्कृति विद्यमान थी तथा दस्यु, पणि, व्रात्य और मौन आदि श्रमण धर्म का पालन करते थे। एलैन डनील्यु (Alain Danielou) ने आर्यों से पूर्व जैनदर्शन और धर्म की मूल नींव रखने वाले ऋषभ को माना है।[105] (Rsabha was the original founder of the pre-Āryan Jain philosophy and religion which considers morality and end in itself independent of theological notions) मेगस्थनीज और टोल्मी के अनुसार पाण्ड्य श्रमण राज्य था, जहां

Scanned with OKEN Scanner

आर्यों से पूर्व की मातृक प्रथा प्रचलित थी। प्रो. फर्लांग ने लिखा है कि "प्राचीन काल से भारत के ऊपरी क्षेत्र में उच्चकोटि का सुव्यवस्थित धर्म विद्यमान था, दार्शनिक, नैतिक और कठोर संयम वाला वह धर्म जैनधर्म था। इसी से ही प्रारम्भ में ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के संयम के स्वरूपों का विकास हुआ।[106]

वस्तुत: जैनधर्म का प्रारम्भिक रूप अहिंसक जीवन संस्कृति, अपरिग्रह, जितिन्द्रियता और श्रम में विश्वास रखने वाला समुदाय था, जिसे बाद में श्रमणधर्म, आर्हतधर्म, जिनधर्म, निर्ग्रन्थ धर्म आदि से अभिहित किया जाने लगा, जो उत्तरकाल में विशेष रूप से तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के बाद जैनधर्म के नाम से विख्यात हुआ। यहां यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होना आवश्यक है कि महावीर और बुद्ध से पूर्व एक ही अक्षुण्ण अहिंसक श्रमण परम्परा रही है, जैन और बौद्ध जैसा कोई विभेद नहीं था। इसलिए बुद्ध और महावीर से पूर्व के जो पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्य हैं, उनसे मात्र श्रमण संस्कृति की ही प्राचीनता सिद्ध होती है, जैन या बौद्ध के रूप में किसी स्वतंत्र सम्प्रदाय की नहीं। श्रमण संस्कृति के इस पुरातात्विक और ऐतिहासिक स्वरूप से अनभिज्ञ प्राय: पाश्चात्य विचारकों ने परवर्ती काल में श्रमण धारा से विकसित हुए स्वतंत्र बौद्ध सम्प्रदाय केअन्तर्गत ही उसका मूल्याङ्कन किया है।

प्राचीन जैन श्रमण जातियां

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि वैदिक कालीन श्रमणों की गणना अनार्यों में होती थी। परन्तु अनेक लेखकों का मानना है कि वैदिक आर्यों के साथ भी अजनाभ देश में रहने वाले ऐसे आर्यों से उनका युद्ध हुआ, जिनकी परम्पराएं और मान्यताएं उनसे भिन्न थीं। इससे यह भी प्रतीत होता है कि कुछ आर्य अवैदिक थे, जिन्होंने भारत के मूल धर्मों को स्वीकार कर लिया था या यहां ही अवैदिक आर्य पूर्व से ही निवास कर रहे हो सकते हैं। बाद में जैन और बौद्धों द्वारा भी आर्य शब्द को गुणवाचक मानकर अपने महापुरुषों को सम्मान देने के लिए उनके लिए आर्य शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। वैदिक पूर्व व्रात्य, पणि, असुर, राक्षस, दास, नाग, शिश्नदेव के उपासक आदि जातियां श्रमण संस्कृति की उपासक मानी जा सकती हैं। इसके अलावा वज्जि, लिच्छवि, ज्ञातृक, झल्ल, मल्ल, मोरिय, कोलिय आदि अनार्य कही जानें वाली जातियों का भी सम्बन्ध श्रमण संस्कृति से रहा है। तक्षशिला, उद्यानपुरी, अहिच्छत्र, मथुरा, पद्मावती, कान्तिपुरी, नागपुर आदि व्रात्य और नाग श्रमण जैन जातियों के प्रमुख केन्द्र थे।[107] पार्श्वनाथ की परम्परा के पार्श्वापत्यीय जैन अनुयायियों की संख्या मध्य और पूर्वी क्षेत्रों में अत्यधिक पायी जाती थी।[108] बुद्ध के शाक्यवंशीय पूर्वज भी निर्ग्रन्थों के उपासक माने गये हैं। वप्प शाक्य जो कि बुद्ध के पितृव्य माने जाते हैं, वे निर्ग्रन्थ परम्परा में दीक्षित हुए थे।[109] स्वयं बुद्ध के विषय में भी पालि और प्राकृत साहित्य में ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं कि वे प्रारम्भ में जैन मुनि थे। दर्शनसार में

Scanned with OKEN Scanner

लिखा है कि पलाश नामक ग्राम में सरयू नदी के तट पर जैन श्रमण पिहिताश्रव ने पार्श्वनाथ के संघ में दीक्षा ली थी और उनका नाम मुनि बुद्धकीर्ति रखा गया था। बाद में चलकर वे भ्रष्ट हो गये मत्स्य, मांस आदि का भक्षण करने लगे और रक्त वस्त्र पहनकर नवीन धर्म का उपदेश देने लगे।[110] सराक, सराग, सराकी, सरोगी, सेराप, सेराव, सेराक, सद्गोप, रंगिया आदि नामों से अभिहित की जाने वाली विहार, झारखण्ड, बंगाल और उड़ीसा आदि प्रदेशों में पायीं जाने वाली जातियां जैन-धर्मावलम्वी रहीं हैं। सराक शब्द श्रावक का अपभ्रंश रूप है। इन जातियों के गोत्र सामान्य रूप से आदिदेव, ऋषभदेव, पार्श्वदेव आदि जैन तीर्थङ्करों के नाम से पाये जाते हैं। ये जातियां मुख्य रूप से उपर्युक्त प्रदेशों के मानभूम, सिंहभूम, वीरभूम, सन्थाल-परगना, वर्द्धमान्, बांकुड़ा, पुरलिया, धनवाद, मेदिनीपुर, रांची, छोटा नागपुर आदि अंचलों में पायी जाती हैं।

दक्षिण पूर्व एशिया और जैन जातियां

जैन साहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख पाये जाते हैं, जिनसे दक्षिण पूर्व एशिया के विभिन्न देशों के साथ जैन व्यापारियों के सम्बन्ध रहे हैं। वसुदेवहिण्डी के गन्दर्भदत्तालम्भ में उल्लेख है कि 'खनिज व्यापार के लिए व्यापारी चीनस्थान, सुवर्णभूमि, कमलपुर (ख्मेर, पूर्वी एशिया), यवनद्वीप (जावा), सिंहल, बर्वर, जवण (ऐलेक्जेण्ड्रिया), सौराष्ट्र और उवरावती तट पर जाया करते थे। टंकण देश में पहुंचकर व्यापारी लोग नदी के किनारे अपने माल के अलग अलग ढेर लगा, लकड़ी की आग जलाकर एक ओर बैठ जाते। टंकण (म्लेच्छ) इस धुएं को देखकर वहीं आ जाते और फिर-इशारों आदि से-लेन देन शुरु हो जाता। यहां रत्नद्वीप और स्वर्णद्वीप का भी उल्लेख किया गया है।[111] समराइच्चकहा में लिखा है कि समुद्रयात्रा के दौरान् चीनद्वीप और स्वर्णद्वीप में धरण व्यापारी की स्त्री का शीलभंग हो गया था। यह धरण व्यापारी जिनधर्मानुयायी था क्योंकि वहीं पर लिखा हुआ है कि नागराज धरण के पास जो प्रतिमा थी, वह विद्याधरों के न्यायालय में ऋषभदेव की प्रतिमा के समीप, उसके बायीं ओर भाणवक स्तंभ पर स्थापित की जाती थी। कुवलयमाला में भी दूसरे देशों में व्यापारियों द्वारा समुद्र यात्रा के वर्णन पाये जाते हैं।[112]

दक्षिण पूर्व एशिया में विशेष रूप से कम्बोडिया, वियतनाम, इण्डोनेशिया, वर्मा आदि देशों में पायी जाने वाली मौन और चाम आदि जातियों का सम्बन्ध श्रमण परम्परा से रहा है। वैदिक धर्मों की उपस्थिति से पूर्व कम्बोडिया, वियतनाम आदि देशों में अहिंसक संस्कृति का अस्तित्व था, यह वहां के मूल निवासियों के प्राचीन लोक कथाओं और साहित्य से पता चलता है। [illegible] तक वहां के अधिकांश निवासी पशुओं, पक्षियों, वनस्पतियों, कीटपतंगों, पानी, [illegible] को जीव मानकर उन्हें नुकसान नहीं पहुचाते थे और उनके प्रति उनका पूर्ण [illegible] था। पाश्चात्य विचारकों ने इस सम्प्रदाय को 'एनीमिज्म' नाम से अभिहित किया है। हमने स्वयं महिनों कम्बोडिया देश में रहकर इसकी सत्यता का

परीक्षण किया तो सभी बुद्धिजीवियों और परम्परागत स्थानीय निवासियों ने भी इस बात की पुष्टि की कि हिन्दु और बुद्ध धर्म से पूर्व यहां अधिकांश लोग एनीमिस्ट थे। नाग और यक्ष जातियों का भी यहां अस्तित्व था, जिसका प्रभाव आज भी यहां सर्वत्र देखा जा सकता है। ईसा की द्वितीय शताब्दी के पश्चात् बुद्धधर्म और पांचवीं शताब्दी के पश्चात् हिन्दुधर्म के बढते प्रभाव के कारण यहां धीरे धीरे जैनधर्म का पतन होना प्रारम्भ हो चुका था। पुरावशेषों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग तक यहां आंशिक रूप में जैन श्रमण संस्कृति के उपासकों का अस्तित्व बना रहा था। अशोक के समय तक उड़ीसा कलिंग में वैदिक पूर्व से निवास करने वाले श्रमण जैन उपासक 'मौनेय[113] कलिंग युद्ध और अकाल से संत्रस्त होकर हजारों की संख्या में इण्डोनेशिया, कम्बोडिया और वर्मा आदि देशों में आ बसे थे।[114] सम्भवतः वे ही मौनेय वहां मौन कहे जाते हैं। इसी तरह विहार भारत के चम्पापुर क्षेत्र के लोग जो आजीविका, व्यापार व अन्य कारण से वियतनाम आदि देशों में पहुंचे, उन चम्पापुर वासियों के नाम से वियतनाम का एक क्षेत्र विशेष चम्पा के नाम से अभिहित किया जाने लगा। अवगत हो महावीर और उनके बाद सैकड़ों वर्षो तक उड़ीसा, विहार और बंगाल जैनधर्म और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र माने जाते थे। इसलिए चाम जाति का भी श्रमण संस्कृति से अधिक साम्य पाया जाता है। वियतनाम और कम्बोडिया में निवास करने वाले चाम समुदाय के लोग आज भी अहिंसा प्रिय और सदाचारी माने जाते हैं। वियतनाम में एक 'नारिकेल' सम्प्रदाय पाया जाता है, जो अपनी साधना के लिए जीवित रहने हेतु मात्र नारियल का जल पीकर ही जीवित रहता है। ये विशुद्ध शाकाहारी, तामसिक प्रवृत्तियों से दूर आत्मिक साधना में लीन रहते हैं। इस सम्प्रदाय पर आर्हत जीवन शैली का अद्भुत प्रभाव है। प्रायः सम्पूर्ण दक्षिण पूर्व एशिया में रात्रि में भोजन करने का प्रचलन नहीं है। जहां बाहर के देशों के यात्रियों का आवागमन रहता है, वही पर रात्रि में भोजन करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, मूल निवासियों में नहीं।

पाश्चात्य विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि फुनान में भारतीयकरण के लिए दक्षिण भारत की अहंभूमिका रही है। समुद्री रास्ते से उनके व्यापारिक सम्बन्ध तो थे ही। व्यापारियों में सभी धर्मो के लोग रहा करते थे। किसी धर्म विशेष को वहां व्यापार करने के लिए मनाही नहीं थी। प्रारम्भिक शताब्दियों के पूर्व से ही दक्षिण भारत जैनधर्म का गढ़ रहा है। जैन व्यापारी भी दक्षिण पूर्व एशिया में अन्य व्यापारियों की तरह जाते रहे और अपने साथ पूजा पद्धतियों को सम्पन्न करने के लिए मूर्ति, आगम और अन्य सामग्री अपने साथ ले जाते थे। उस समय अनेक व्यापारी दक्षिण पूर्व एशिया में ही बस गये। वहां उन्होंने मन्दिर भी बनवाये। दूसरे दक्षिण भारत में शंकराचार्य के समय जैन धर्मावलम्बियों पर घोर अत्याचार हुए, उनके मन्दिर तोड़े गये, उनके गुरुओं की सामूहिक नृशंस हत्याएं की गई, इससे अनेक जैन धर्मावलम्बी समुद्री रास्ते से दक्षिण पूर्व एशिया की ओर पलायन कर गये।

Scanned with OKEN Scanner

प्राचीन जैन शासक

तीर्थङ्कर क्षत्रिय और यदुवंशी थे। उनके अधिकांश गणधर ब्राह्मण कुलोत्पन्न रहे। जैन मूल साहित्य के अधिकांश सृजन कर्ता ब्राह्मण आचार्य ही थे। प्राचीन काल के अनेक राजवंश और राजा जैनधर्मावलम्बी रहे हैं तथा अनेक जैनेतर राजाओं ने भी जैनधर्म के विकास और उत्कर्ष के लिए योगदान दिया हैं। 'भगवान् महावीर के समय में मगध के सिंहासन पर शिशुनागवंशी राजा बिम्बसार उपनाम श्रेणिक विराजमान थे। उनका उत्तराधिकारी उनका पुत्र अजातशत्रु (कुणिक) हुआ। अजातशत्रु ने अपने नाना चेटक के राज्य पर आक्रमण करके वैशाली तथा लिच्छवि देशों को मगध के साम्राज्यों में मिला लिया और राजगृही के स्थान पर वैशाली को राजधानी बनाया। अजातशत्रु के पुत्र उदयन ने पाटलीपुत्र को मगध की राजधानी बनाया। इस वंश के राजच्युत होने पर नन्दवंश का राज्य हुआ और चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दों का सिंहासन छीन लिया। चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार गद्दी पर बैठा और उसके बाद उसका पुत्र अशोक पदासीन हुआ।[115] सम्राट अशोक के पौत्र सम्प्रति के विषय में इतिहासकारों ने लिखा है कि जैनधर्म के प्रचार और प्रसार के लिए सम्प्रति ने वही कार्य किया जो अशोक ने बौद्धधर्म के प्रचार के लिए किया था। उसने अनार्य देशों में भी जैनधर्म के प्रचारक भेजे।[116] गुजरात में अमोघवर्ष, राष्ट्रकूट, चालुक्य आदि के समय जैनधर्म ने खूब प्रगति की। यहां के बघेलों के राज्य में ही वस्तुपाल और तेजपाल नामक मंत्रियों ने आबू के प्रसिद्ध जैन मन्दिरों के साथ शत्रुंजय और गिरनार में भी जैन मन्दिर बनवाये थे। मध्य प्रान्त के कलचुरि राजा और चन्देलों का भी जैनधर्म के प्रचार और प्रसार में योगदान रहा है। उत्तर भारत में मथुरा के कंकाली टीला, श्रावस्ती के सहेट-महेट, अहिच्छत्र आदि स्थानों पर प्राप्त पुरातात्कि वैभव से समृद्ध जैन संस्कृति का पता चलता है। सुहलदेव श्रावस्ती का अन्तिम जैन राजा था। अहिच्छत्र में मोरध्वज नाम का राजा भी जैनधर्मावलम्बी बताया जाता है।

दक्षिण पूर्व एशिया में जैनधर्म के सम्बन्ध में दक्षिण भारत में हुए राजाओं का जैनधर्म के लिए योगदान विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि यहां के राजाओं ने द. पू. ए. में भाषा, लिपि और भारतीय संस्कृति के मूल्यों को फैलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। इस बात के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि दक्षिण भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में जैनधर्म अपने उत्कर्ष पर था। यही कारण है कि उत्तर भारत में बारह वर्षीय अकाल पड़ने पर जैनाचार्य भद्रबाहु अपने विशाल संघ सहित दक्षिण भारत चले गये थे। प्रो. रामस्वामी आयंगर ने लिखा है कि 'सुशिक्षित जैन साधु छोटे छोटे समूह बनाकर समस्त दक्षिण भारत में फैल गये और दक्षिण की भाषाओं में अपने धार्मिक साहित्य का निर्माण करके उसके द्वारा अपने धार्मिक विचारों को धीरे धीरे किन्तु स्थायी रूप में फैलाने लगे। किन्तु यह कल्पना करना कि ये साधु साधारणतया लौकिक कार्यों में उदासीन रहते थे, गलत है। एक

Scanned with OKEN Scanner

सीमा तक यह सत्य है कि ये संसार में सम्बद्ध नहीं होते थे, किन्तु मेगस्थनीज के विवरण से हम जानते हैं कि ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी तक राजा लोग अपने दूतों के द्वारा वनवासी जैन श्रमणों से राजकीय मामलों में स्वतन्त्रतापूर्वक सलाह मशविरा करते थे। जैन गुरुओं ने राज्यों की स्थापना की थी और वे राज्य शताब्दियों तक जैनधर्म के प्रति सहिष्णु बने रहे। किन्तु जैनधर्म में रक्तपात के निषेध पर जो अत्यधिक जोर दिया गया उसके कारण समस्त जैन जाति राजनैतिक अधोगति को प्राप्त हो गई।[117] तमिल, तेलगु और कन्नड भाषा में सृजित साहित्य के आधार पर लेखकों ने दक्षिण भारत में जैनों की संस्कृति के उत्कर्ष का सुन्दर वर्णन किया है। पल्लव वंशी राजाओं के शासनकाल में जैनधर्म की काफी उन्नति हुई। इस वंश के शिवस्कन्दवर्मा कुरलकाव्य के रचयिता कुन्दकुन्द के शिष्य माने जाते हैं। प्रारम्भ में राजा महेन्द्रदेव वर्मा भी जैनधर्मानुयायी थे, बाद में उनको शैव साधु अप्पर ने शैव बना दिया था। कदम्ब और चालुक्य भी जैन धर्म के आश्रयदाता रहे हैं। ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं कि ईसा की दूसरी शती में गंगवंश की स्थापना जैनाचार्य सिंहनन्दि ने की थी। श्रवणवेलगोला में विन्ध्यगिरि पर गोमटेश की विशालकाय मूर्ति की स्थापना चामुण्डराय ने कराई थी, जो पल्लव वंशी राजा मारसिंह के सुयोग्य मंत्री थे। उस समय कांची जैनधर्म का प्रमुख स्थान माना जाता था।[118] उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि ऋषभदेव की श्रमण परम्परा के साक्ष्य सिन्धुघाटी की सभ्यता में उपलब्ध होते हैं।

इथोपिया में अल्माका और ऐहा के मन्दिर, कीनिया की गुफाएं और श्रीलंका का अभयगिरि आदि प्राप्त ऐसे पुरातात्विक साक्ष्य हैं, जिनसे जैनसंस्कृति के विश्वव्यापी अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। ईसापूर्व द्वितीय तृतीय शताब्दी में हुए कलिंग नरेश महाराजा महामेघवाहन खारवेल के नाम से सभी इतिहासज्ञ परिचित हैं, वे जैनधर्मानुयायी थे। इनके काल के हाथीगुंफा के एक शिलालेख में नन्दवंशी राजा द्वारा ऋषभदेव की मूर्ति कलिंग से पाटलीपुत्र ले जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[119] अधोलिखित शिलालेख में यह उत्कीर्ण है कि 'णमो अरहंताणं णमो सवसिधानं ऐरेण महाराजेन महामेघवाहनेन चेतिराजवंसवधेन .....कलिंग के खारवेल सम्राट महामेघवाहन तथा उनके राज्यकाल के तेरहवें वर्ष में (दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व) में उदयगिरि में उनका जैन सम्मेलन हुआ...।

गुप्तकाल में वैष्णव, जैन और बौद्ध धर्मों में पारस्परिक सद्भाव था। इतिहासकार मानते हैं कि इन 'भारतीय धर्मों और संस्कृति का प्रसार देश की सीमाओं को लांघकर मध्य एशिया तक तथा दक्षिण एवं पूर्व में वर्मा, मलाया, स्याम, हिन्दचीन, लंका, पूर्वीद्वीप समूह आदि में भी पहुंचा और अनेक भारतीय उपनिवेश एवं भारतीय राज्य उन देशों में स्थापित हुए।[120]

इस प्रकार जैनधर्म, अतीत में आर्हत, श्रमण, व्रात्य आदि किसी भी नाम से अभिहित किया जाता रहा हो वेदों में तीर्थङ्करों के नामों के उल्लेख पाये जाने से स्पष्ट है कि

Scanned with OKEN Scanner

जैनश्रमण संस्कृति काअस्तित्व वैदिक संस्कृति के पूर्व से अस्तित्व में रहा है। श्रीलंका, वर्मा आदि देशों में उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर प्रामाणिक रूप से यह स्वीकार कर लिया गया है कि बुद्ध से पूर्व वहां जैनधर्म विद्यमान था। पहली शती के पूर्व से दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में समुद्री मार्ग से जैन व्यापारियों का निराबाध आवागमन हुआ करता था। उन देशों में उन्होंने जिनमन्दिर भी बनवाये और कुछ व्यापारी वहां स्थायी बस गये। समानान्तर विकसित हुई संस्कृतियों पर परस्पर प्रभाव भी पड़ा। द. पूर्व एशिया के पुरातत्व एवं इतिहास वेत्ताओं ने कालान्तर में अज्ञानता व ईर्ष्या व संस्कृतियों के सम्मिश्रण के कारण जिनमूर्तियों तथा जैन सांस्कृतिक अवशेषों को बुद्ध अथवा वैदिक परम्परा का मानकर मूल्याङ्कन किया है, जिसके पुनरीक्षण से जैन संस्कृति विषयक अनेक नवीन तथ्य उद्घाटित हो सकते हैं।

लिपि ब्राह्मी, औड्रमागधी, भाषा समय ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी

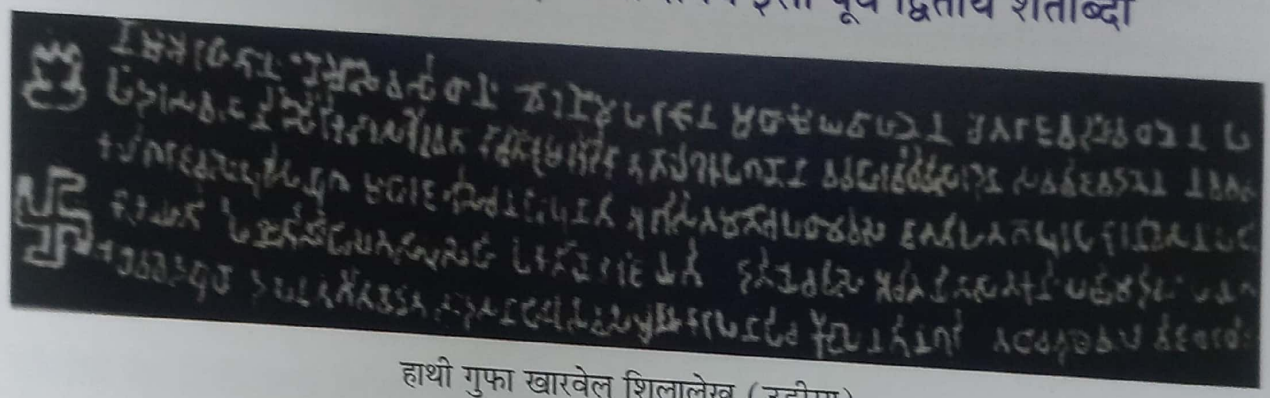

हाथी गुफा खारवेल शिलालेख (उड़ीसा)

Scanned with OKEN Scanner

पंचम अध्याय

जैन सांस्कृतिक विरासत

गत अध्याय में जैसा कि स्पष्ट किया गया है कि हिन्दू धर्म के मूल वैदिक ग्रन्थों में निराकार ईश्वरीय स्वरूप का प्रतिमा आदि के रूप में साकार रूप सम्भव नही हो सकता है।[1] मध्यकाल में भक्ति को आत्मसात् कर मूर्तिपूजा का विधान वैदिक परम्परा में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होने लगा। निर्वाण होने से पूर्व बुद्ध ने भी अपने अनुयायियों से स्पष्ट कहा था कि उनके निर्वाण के पश्चात् उनकी प्रतिमाएं आदि न बनवाई जायें। दूसरी ओर जैन-श्रमण परम्परा में कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्य और चैत्यालयों के होने के अनेक उल्लेख शास्त्रों में पाये जाते हैं। मूल श्रमण, आर्हत व जैन परम्परा का सम्बन्ध तीर्थङ्करों से जुड़ा हुआ है। मूल जैन ग्रन्थों में तीर्थङ्करों की ही प्रतिमाएं बनाये जाने का उल्लेख पाया जाता है। मोहनजोदड़ो, सिन्धुघाटी आदि में प्राप्त जैन प्रतिमाओं के अवशेष इसके प्रमाण हैं। गान्धार और मथुरा में जैनों के साथ बौद्धों की बहुत संख्या में मूर्तियों का निर्माण किया गया। कभी कभी तो यहां निर्मित बुद्ध और तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं में अन्तर करना भी मुश्किल समझा गया। अवगत हो कि मूर्ति निर्माण के प्रारम्भ काल में तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं के पादपीठ पर तीर्थङ्करों के पहचान का लांछन बनाया जाना सम्भवत: आवश्यक नहीं माना जाता था। इसके बाद हिन्दू परम्परा में भी तेजी से मूर्ति निर्माण का कार्य प्रारम्भ हो गया।

प्राय: कुषाणकाल के बाद गुप्तकाल से तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं के साथ देवी देवताओं, अष्ट प्रातिहार्यों, अष्टमङ्गलों, प्रतीकों, अलङ्करणों आदि का भी अङ्कन होने लगा। यह अङ्कन जैन परम्परा में ही नहीं अपितु अपनी परम्परा के अनुसार बौद्ध और हिन्दू परम्पराओं की मूर्तियों में भी होने लगा। किस परम्परा का किस पर प्रभाव पड़ा यह प्रमाणिक ढंग से कह पाना कठिन है। क्योंकि तीनों ही परम्पराओं में इस प्रकार का अङ्कन किया जाना सामान्य हो गया था और सच कहा जाये तो तीनों ही परम्पराओं ने परस्पर इस प्रकार के अङ्कन को एक दूसरे को अत्यधिक प्रभावित किया। यहां तक कि उन अङ्कन की स्थिति परस्पर घालमेल जैसी हो गई। इसलिए सम्बन्धित परम्परा के सांस्कृतिक प्रतीकों चिह्नों और देवसमूहों के अङ्कन के आधार पर ही उनका विभाजन किया जा सकता है। इसलिए इस अध्याय में आर्हत संस्कृति के सांस्कृतिक प्रतीकों व चिह्नों आदि का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे, जिससे उसकी अन्य परम्पराओं से स्वतंत्र पहचान की जा सके। यह आवश्यक इसलिए हुआ कि कुषाण काल से पूर्व जिन और बुद्ध की पद्मासन व अर्द्धपद्मासन में बनी हुई प्रतिमाएं प्राय: समान दिखती हैं। यही कारण है कि भारत सहित दक्षिण पूर्व और मध्य एशिया में पायी जाने वाली अनेक जैन प्रतिमाएं बुद्ध की मान ली गई।

Scanned with OKEN Scanner

भारतीय संस्कृति में अष्टमङ्गल द्रव्यों का अत्यधिक महत्त्व है। जैन, बौद्ध और हिन्दुधर्म में इनमें प्रायः समानता दृष्टिगोचर होती है पर इनमें जो अन्तर है उससे उन सम्प्रदाओं के अन्तर को उनसे सम्बव्धित धर्म, दर्शन और संस्कृति के प्रभाव के अङ्कन के आधार पर ही उसे भलीभांति समझ सकते हैं। चित्रकला, स्थापत्य, शिलालेख और पाण्डुलिपियों में प्रायः प्रतीकों का अङ्कन किया गया है, इन प्रतीकों से भारतीय संस्कृति और सभ्यता का स्वरूप उद्घाटित होता है। जैनसंस्कृति में उपादान जागृत करने के लिए प्रतीक तदाकार से अतदाकार होने के लिए निमित्त हैं। जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर, चैत्यालय, पंचपरमेष्ठी, स्वस्तिक, त्रिशूल, समवसरण, मानस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, पंचमेरु, नन्दीश्वरद्वीप, सुमेरुपर्वत, अष्टमङ्गल द्रव्य, अष्टप्रातिहार्य, तीनलोक, श्रीवत्स, पंचरंगी ध्वज, धर्मचक्र, श्रीमण्डप आदि तदाकार अनेक प्रतीक माने गये हैं। तीर्थङ्कर प्रतिमाओं पर तीन छत्र, भामण्डल, देवों द्वारा तीर्थङ्करों के शिर पर देवों द्वारा चंवर ढुलाया जाना आदि का भी अङ्कन पाया जाता है। भारत सहित दक्षिण पूर्व एशिया की तीनों परम्पराओं की मूर्तियों में पायी जाने वाली कुछ मूर्तियों में गजाभिषेक का अङ्कन भी पाया जाता है।

हिन्दु, जैन और बौद्ध तीनों भारतीय परम्पराओं में ओम्, स्वस्तिक, धर्मचक्र, अष्टमङ्गल, ध्वज, कलश, त्रिशूल, पशु, पक्षियों, वृक्षों, लताओं, कला आदि का अङ्कन स्वतंत्र रूप से व अपने देव मण्डल के समीप किया जाने लगा। अपनी संस्कृति का वैशिष्ट्य व पहचान के लिए उनमें कुछ अन्तर भी किया गया। यही देवी देवताओं के नामकरण में भी हुआ, कुछ देवी देवताओं के तो तीनों परम्पराओं में समान नाम भी पाये जाते हैं। समान प्रतीत होने की स्थिति में विभिन्न धर्मों के उपास्यों का अन्तर, उनके उपास्य के पहचान का चिह्न व उनके परिकर में स्थित इन्हीं देवी देवताओं आदि के अन्तर के आधार पर समझ सकते हैं।

तीर्थङ्कर और उनके चिह्न, यक्ष, यक्षणियां, चैत्यवृक्ष

तीर्थङ्कर

तीर्थङ्करों की प्रतिमाएं प्रतीक रूप में ही हैं। जैन परम्परा में प्रायः मणि, सुवर्ण, चांदी, पीतल, पाषाण आदि से प्रतिमाएं बनाये जाने और उनके पूजने का विधान है, पर हिन्दु शास्त्रों में इनके साथ मिट्टी, लकड़ी, बालू आदि से भी मूर्तियों का निर्माण करने और उन्हें पूजने की भी परम्परा है। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि चल और अचल के रूप में प्रतिमाएं आठ प्रकार की होती हैं– शिला, लकड़ी, लोहा, मिट्टी, बालू, चित्रित, मनोमयी और मणिमयी। अचल प्रतिमा की पूजा में आह्वान और विसर्जन नहीं होता है, चल प्रतिमा में वह वैकल्पिक है। परिष्कृत भूमि में दोनों ही स्थापित होते हैं। जो मूर्ति मिट्टी की नहीं है उसका स्नपन होता है और अन्यथा परिमार्जन होता है।[2]

जैनधर्म में चौबीस तीर्थङ्करों के उनकी पहचान कराने वाले चौबीस चिह्न माने जाते हैं, साथ ही उनके यक्ष, यक्षणियां एवं चैत्यवृक्ष भी माने गये हैं। हिन्दू और बौद्ध दोनों परम्पराओं में भी यक्ष, यक्षणियों, पशु, पक्षियों और वृक्षादि का अत्यधिक महत्त्व है। हिन्दू परम्परा में ब्रह्मा, शिव, विष्णु, काली आदि के वाहन के रूप में उनके पहचान के चिह्न हैं। यहां उन प्रमुख प्रतीकों का विवरण प्रस्तुत है, जो प्राय: स्वल्प अन्तर से तीनों परम्पराओं में दृष्टिगोचर होते हैं। यहां यह जानना आवश्यक है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में प्रकृति और विभिन्न पशुपक्षी आदि जीवों के प्रतीकों को अपनाकर अपने धर्म, दर्शन और संस्कृति की पारिस्थितकी और पर्यावरण के साथ धार्मिक सम्बन्धों को स्थापित कर उसके संरक्षण में महती उपादेयता सिद्ध की है। यहां जैन संस्कृति के सभी प्रतीकों का विस्तृत वर्णन करना अभीष्ट नहीं है, परन्तु आवश्यक होने के कारण कतिपय प्रमुख प्रतीकों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

'अयागपट्ट के मध्य उत्कीर्ण जिन और तीन रत्न, म्युजियम, लखनऊ

Scanned with OKEN Scanner

तीर्थङ्करों के नाम, चिह्न, यक्ष, यक्षणियां और चैत्यवृक्ष

क्रम	तीर्थंकर नाम	चिह्न	यक्ष	यक्षिणी	चैत्य वृक्ष
1	ऋषभनाथ	वृषभ	गोमुख	चक्रेश्वरी	वटवृक्ष
2	अजितनाथ	गज	महायक्ष	रोहिणी	सप्तपर्ण
3	संभवनाथ	अश्व	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति (नम्रे)	शाल
4	अभिनन्दन	कपि	यज्ञेश्वर	वज्रशृंखला	देवदारु
5	सुमतिनाथ	चकवा	तुम्बुर	पुरुषदत्ता	प्रियंगु
6	पद्मप्रभ	कमल	कुसुम	म्नोवेगा(मोहिनी)	प्रियंगु
7	सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक(श्रीवत्स श्वेताम्बर)	वरनन्दी	काली (मालिनी)	शिरीष
8	चन्द्रप्रभ	शशि	विजय	ज्वालमालिनी	नगवृक्ष
9	पुष्पदन्त	मगर	अजित	महाकाली	साल
10	शीतलनाथ	कल्पवृक्ष	ब्रह्मेश्वर	मानवी (चामुंडे)	प्लक्ष
11	श्रेयांसनाथ	गेंडा	कुमार	गौरी (गोमेधकी)	तेंदु
12	वासुपूज्य	भैंसा	षण्मुख	गांधारी	पाटला
13	विमलनाथ	शूकर	पाताल	वैरोटी (विद्या)	जंबू
14	अनन्तनाथ	भालु (बाज श्वे.)	किन्नर	अनन्तमति	पीपल
15	धर्मनाथ	वज्र	किंपुरुष	मानसी	दधिपर्ण
16	शान्तिनाथ	मृग	गरुड	महामानसी	नन्दी
17	कुन्थुनाथ	मेष	गंधर्व	जय (गांधारणी)	तिलक
18	अरहनाथ	मीन (नन्द्यावर्त श्वेताम्बर)	महेन्द्र	विजया (काली)	आम
19	मल्लिनाथ	कुम्भ	कुबेर	अपराजिता	अशोकवृक्ष
20	मुनिसुव्रत	कूर्म	वरुण	बहुरूपिणी	चम्पक
21	नमिनाथ	नीलकमल	विद्युत्प्रभ	चामुंडी	बकुल
22	नेमिनाथ	शंख	गोमद	कूष्मांडी	मेषशृंग
23	पर्श्वनाथ	नाग	धरणेन्द्र	पद्मावती	धव
24	महावीर	सिंह	मातंग	सिद्धायनी	साल

Scanned with OKEN Scanner

चैत्यवृक्ष

चैत्य वृक्षों को ही अशोक वृक्ष कहा गया है। जिन वृक्षों के नीचे ऋषभादि तीर्थङ्करों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, वे ही चैत्यवृक्ष व अशोकवृक्ष हैं।

शासनदेव और देवियां

तीर्थङ्करों के रक्षक व सेवक के रूप में शासनदेव-देवियों, जिन्हें यक्ष और यक्षणियां कहा जाता है, का प्रारम्भिक जैन प्रतिमा विधान में कोई अस्तित्व नहीं पाया जाता, मध्यकाल में अन्य धर्मों से प्रभावित होकर जैन परम्परा में भी उनका अङ्कन होने लगा। जैसा कि इतिहासकारों ने माना है कि जैन प्रतिमाओं में यक्ष, यक्षी आदि अलङ्करण की परम्परा गुप्तयुग से प्रारम्भ हुई, इससे पूर्व प्रतिमाओं में परिकर आवश्यक नहीं था। परन्तु यक्ष-यक्षी की प्रारम्भिक सूची और ग्यारहवीं-बारहवीं शती ई. की सूची के नामों में कुछ भिन्नता है। तिलोयपण्णति के ब्रह्मेश्वर यक्ष और वज्राकुशा, जया एवं सोलसा यक्षियों के नाम परवर्ती सूची में नहीं मिलते। इसी प्रकार चक्रेश्वरी एवं अप्रति चक्रेश्वरी नाम से एक ही यक्षी का तिलोयपण्णत्ति में दो बार क्रमशः पहली और छठी यक्षियों के रूप में उल्लेख है। प्रवचन सारोद्धार की सूची में मनुज एवं सुरकुमार यक्षों में और यक्षियों में ज्वाला, श्रीवत्सा, प्रवरा एवं अच्युता यक्षियों के नाम ऐसे हैं, जो परवर्ती ग्रन्थों में नहीं मिलते। इन ग्रन्थों में इनके स्थान पर यक्षेश्वर, कुमार, भृकुटि, मानवी, चामुण्डा एवं वरदत्ता का उल्लेख हुआ है।[3] कुछ विद्वानों का मानना है कि कई चरणों में जैन देवकुल पर ब्राह्मण और बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा।[4]

यक्ष और यक्षियों की दो से सम संख्या में मुख और भुजाओं की संख्या जैन, बौद्ध और ब्राह्मण तीनों परम्पराओं में पायी जाती हैं। चौबीस यक्ष-यक्षियों के मुख, वाहन, भुजाएं, वर्ण और उनके आयुधों के विषय में भी जैन ग्रन्थों में उल्लेख किये गये हैं। कुमार, पाताल, किन्नर और गौमेद यक्षों के तीन मुख, महायक्ष, ब्रह्मसण्णमुख, कुबेर, और भृकुटी के चार मुख, रवीन्द्र यक्ष के छह मुख, वरुण यक्ष के आठ मुख, गौमुख यक्ष का मुख गाय जैसा एवं मातंग और गरुड यक्षों के मुख बक्र या कुटिल होते हैं।[5] इसी तरह तीनों परम्पराओं में यक्ष-यक्षियों, देवी- देवताओं आदि के प्रिय फलों, वाहन, और आयुधों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। जैन परम्परा में इनके एक हांथ में फल (मातुलिंग) विशेष प्रिय था और गज, मृग, गरुड, सर्प, बृषभ, मयूर, हंस आदि वाहन तथा आयुधों में पाश, अंकुश, परशु, सर्प, चक्र, धनुष, बाण, नकुल, अक्षमाल आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। अलङ्कार और परिधानों में भी प्रायः समानता है।

अग्रलिखित हिन्दु और बौद्ध परम्परा के देवी देवताओं के वाहन और अलङ्करण विवरण के साथ जैन परम्परा में मान्य का तुलनात्मक दृष्टि से मूल्याङ्कन किया जा सकता है

Scanned with OKEN Scanner

और उनमें अपनी परम्परा के पहचान के लिए किये गये कुछ परिवर्तन के आधार पर परम्परा विशेष के देवी देवता को पहचाना जा सकता है।

जैन परम्परा में श्रुतदेवी की मान्यता विशेष उल्लेखनीय हैं। इसे जैन सरस्वती के नाम से भी अभिहित किया गया है। इसके 16 भेद किये गये हैं। असुर, नाग, सुपर्ण, उदधि, अग्नि, दिग्वात, भूत, राक्षस, यक्ष किन्नर, किंपुरुश, महोरग, गन्धर्व, नवग्रह, दिक्पाल, क्षेत्रपाल, भैरव आदि के भी जैन परम्परा में उल्लेख हैं। इनके स्वरूपादि का वर्णन प्रायः हिन्दु देवी देवताओं के स्वरूपों से मेल खाते हैं। इन्द्राणी, वैष्णवी, कौमारी, वाराही, ब्रह्माणी, महालक्ष्मी, चामुण्डी और भवानी के रूप में अष्टमातृकाओं और चौसठ योगनियों, दश दिक्पालों और उनकी पत्नियों का अङ्कन भी जैन शिल्प में पाया जाता है, जो प्रायः हिन्दू और बौद्ध परम्परा जैसा है।

हिन्दु परम्परा[6]

देव	वाहन	देवियां	वाहन
ब्रह्मा	हंस	दुर्गा	सिंह
विष्णु	गरुढ	सरस्वती	हंस
शिव	वृषभ	गौरी	वृषभ
इन्द्र	गज	शीतला	गर्दभ
कार्तिकेय	मयूर	लक्ष्मी	उलूक
गणेश	मूशक	गंगा	नक्र

आयुध और देव संयोग

चक्र, गदा, शार्दूलधनुष का विष्णु से, त्रिशूल, पिनाक धनुष, खट्वांग, अग्नि, परशु का शिव से, अंकुश, पाश का गणेश से, शक्ति, वज्र का सुब्रह्मण्य और इन्द्र, मूसल, हल का बलराम से, शर, खंग, भुसुण्डि, मुद्गर, खेट, धनुश, पताका का कार्तिकेय से, परिघ, पट्टिस, चर्म, असि का दुर्गा से।

पात्र, वाद्ययन्त्र, पशुपक्षी और परिधान

ब्रह्मा के पात्र स्रुचि, स्रुव, कमण्डलु, सरस्वती का पुस्तक, शिव का कपाल, यम का दण्ड, देवी का दर्पण, लक्ष्मी का पद्म, श्रीफल, अमृतफल तथा गणेश का मोदक हैं। छाग, हरिण और मेष शिव के पशुपक्षी हैं एवं कुक्कुट, स्कन्द कार्तिकेय के हैं। सरस्वती का वाद्ययंत्र

Scanned with OKEN Scanner

वीणा है, कृष्ण का वेणु, शिव का डमरु, विष्णु का पांचजन्य, दुर्गा तथा कार्तिकेय का घण्टा, मृदंग और करताल हैं। हार, केयुर, कंकण आदि परिधान आदि अंगों के अनुसार प्राय: सभी परम्पराओं के देवी देवताओं के समान हैं।

हिन्दु परम्परा में काली, तारा, षोडशी सुन्दरी, छिन्नमस्ता, बगला, कमला, मातंगी, भुवनेश्वरी, भैरवी और धूमावती की गणना सिद्ध व दशमहाविद्याओं में की गई है। काली के नारायणी काली, तारा, शून्यवाहिनी, सुन्दरी, रक्तकाली, भैरवी और नावरूपिणी आदि और भी नाम हैं। योगिनीतन्त्र में शम्भु रूपिणी काली को ज्ञान रूपी तलवार से बन्धन के कारण पाप और पुण्य रूपी पशु को काटने वाला बताया गया है। अवगत हो कि जैन अध्यात्म में भी पुण्य और पाप को बन्धन का कारण होने के कारण हेय कहा गया है।

नवग्रह

हिन्दु परम्परा के नवग्रहों की चर्चा यहां करना इसलिए आवश्यक है कि जैन परम्परा में ये नवग्रह तो हैं, पर उन्हें पूजने का विधान नहीं है। कुछ जैनाचार्य इसे तीर्थङ्करों के साथ जोड़कर सांसारिक अनिष्टों को दूर करने में सहायक मानकर उन्हें पूजने लगे हैं, जो उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि हिन्दु परम्परा में उनका स्वरूप अस्त्र, शस्त्र युक्त रागात्मक है।

हिन्दु परम्परा में मत्स्य पुराण (94/1-9) के अनुसार सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु नवग्रह हैं और उनका स्वरूप निम्न प्रकार है-

सूर्य - सात घोड़ों के रथ पर आरूढ़, कमल के आसन पर विराजमान सूर्यदेव की दो भुजायें होती हैं तथा उन भुजाओं में कमल सुशोभित होते हैं और सिर पर सुन्दर स्वर्णमुकुट होता है। इनको सविता और आदित्य के नामों से भी अभिहित किया जाता है। चक्र, शक्ति, पाश और अंकुश इनके मुख्य अस्त्र हैं, रंग लाल है एवं एक चक्र से युक्त इनका वाहन रथ है। चक्र संवत्सर कहलाता है। रथ में मासों को सूचित करने वाले बारह आरे होते हैं, ऋतु रूप छह नेमियां मानी गई हैं और तीन चौमासे रूप तीन नाभियां हैं।

चन्द्रमा - दश घोड़ों और तीन चक्रों वाले श्वेत वर्ण के रथ पर कमल के आसन पर विराजमान चन्द्रदेव के सिर पर स्वर्णमुकुट और गलें में मोतियों की माला होती है। इनके एक हाथ में गदा होती है तथा दूसरा हांथ वरद मुद्रा में होता है। अश्विनी, भरणी आदि इनकी सत्ताईस पत्नियां और बुध नामक इनका पुत्र है।

मंगल - चार भुजाओं वाले मंगल मेख (भेड़ा) पर सवार होते हैं, इनके शरीर के रोयें लाल वर्ण के हैं। इनके हाथों में क्रमश: अभयमुद्रा, त्रिशूल, गदा और वरद मुद्रा है। ये लाल मालाएं और लाल वस्त्र धारण किये हुए होते हैं।

बुध - सिंह वाहन पर सवार बुध देव पीले रंग की पुष्पमाला तथा पीले रंग के वस्त्र

Scanned with OKEN Scanner

धारण करते हैं। उनके चार हाथ होते हैं, जिनमें वे क्रमशः तलवार, ढाल, गदा और वरदमुद्रा को धारण किये होते हैं। गले में माला होती है। रंग इनका कनेर के पुष्प के समान होता है। इनके पिता का नाम चन्द्रमा और माता का नाम तारा है। इला इनकी पत्नी का नाम है।

बृहस्पति - कमल के आसन पर विराजमान, पीत वर्ण के बृहस्पति के सिर पर स्वर्ण मुकुट और गले में माला होती है। वे पीत वर्ण के वस्त्र धारण करते हैं। उनके चारों हाथों में क्रमशः दण्ड, रुद्राक्ष की माला, पात्र और वरदमुद्रा सुशोभित होती है। कहीं कहीं पर इनका वाहन स्वर्णमय रथ भी बताया गया है। इनकी शुभा, तारा और ममता नाम की तीन पत्नियां बताई गई हैं। शुभा से सात कन्याएं, तारा से सात पुत्र और एक कन्या तथा ममता से भरद्वाज और कच नामक सन्तानें उत्पन्न मानी जाती हैं।

शुक्र - श्वेत कमल के आसन पर विराजमान दैत्यों के गुरु शुक्र का वर्ण श्वेत है, वे सिर पर मुकुट और गले में माला धारण करते हैं। इनके चारों हाथों में क्रमशः दण्ड, रुद्राक्ष की माला, पात्र तथा वरदमुद्रा सुशोभित होती है। मत्स्यपुराण के अनुसार इनका वाहन रथ है जिसमें अग्नि के समान आठ घोड़े जुते रहते हैं।

शनि - गीध पर सवार, इन्द्रनीलमणि के समान शरीर की कान्ति वाले शनिदेव सिर पर स्वर्ण मुकुट, गले में माला और शरीर पर नीले रंग के वस्त्र धारण करते हैं। इनके हाथों में क्रमशः धनुष, बाण, त्रिशूल, और वरद मुद्रा सुशोभित होती है। ये सूर्य तथा छाया के पुत्र माने गये हैं। ब्रह्मपुराण के अनुसार चित्ररथ की पुत्री इनकी पत्नी थीं।

राहु - सिंह पर विराजमान राहु के सिर पर मुकुट, गले में माला तथा शरीर पर काले रंग का वस्त्र धारण करते हैं। इनके हाथों में क्रमशः तलवार, ढाल, त्रिशूल और वरदमुद्रा सुशोभित है।

केतु - गीध पर विराजमान, धूम वर्ण के केतु की भुजाओं में क्रमशः गदा तथा वरदमुद्रा सुशोभित है। वे सिर पर मुकुट और शरीर पर काला वस्त्र धारण करते हैं। ऐसा माना जाता है कि विष्णु के चक्र से कटने पर सिर राहु कहलाया और धड़ केतु के नाम से जाना गया।

आसन और मुद्राएं

पैरों की स्थितियों को आसन और हाथों की स्थितियों को मुद्राएं कहा गया है। पर्यङ्कासन- पद्मासन, अर्द्ध पर्यङ्कासन- अर्द्ध पद्मासन, खड़गासन-कायोत्सर्ग, बज्रासन और वीरासन, इन आसनों में प्रारम्भ की तीन आसनों में तीर्थङ्कर प्रतिमाएं पायी जाती हैं। समरांगणसूत्रधार में 64 मुद्राओं का उल्लेख पाया जाता है। कायोत्सर्ग जिनमुद्रा है। बैठी हुई हथेलियां कमल कलिका में रखी हुई योग मुद्रा है। वरद मुद्रा,पाद मुद्राएं प्रभृति और भी

Scanned with OKEN Scanner

अनेक मुद्राएं हैं। तीर्थङ्कर सदैव समभंग में खड़े दिखाये जाते हैं। देवियों की प्रतिमाएं त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित की जाती हैं। सूर्य सिंह राशि के स्वामी माने गये हैं।

बौद्ध परम्परा

बुद्ध की प्रतिमाएं अनेक मुद्राओं में प्राप्त होती हैं। हिन्दु परम्परा की तरह इस धर्म में भी देवी देवताओं और प्रतीकों की असीमित संख्या है। जैनों के 24 तीर्थङ्करों और हिन्दु परम्परा के विष्णु के 24 अवतारों की तरह बौद्ध परम्परा में भी 24 बोधिसत्व स्वीकार किये गये हैं। बुद्ध की मूर्तियों के पार्श्व में भी देवी देवताओं की मूर्तियों का अङ्कन पाया जाता है। तारा, श्यामा, प्रज्ञापारमिता, मंजुश्री, भैरव आदि प्रमुख हैं।

ओम्

जैनधर्म में 'ओं' अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु का वाचक माना गया है। आचार्यों ने लिखा है-

अरहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झाया।
गुणिणो पढमक्खरणिपण्णो ओंकारो पंच परमेट्ठी।।[7]

अर्थात् 'ओम्' इस एकाक्षर में अ, उ और म् संयुक्त हैं। अरहन्त, अशरीरी सिद्ध और आचार्य का प्रथम अक्षर 'अ' है। उपाध्याय का प्रथम अक्षर 'उ' है और मुनि का प्रथम अक्षर 'म्' है। इस प्रकार पंच परमेष्ठियों के प्रथम अक्षरों से बना हुआ 'ओम्' है, जिसे ओंकार भी कहा गया है। हिन्दु परम्परा में त्रिगुण, त्रिदेव व गणेश का वाचक है।

स्वस्तिक

स्वस्तिक प्रतीक के रूप में विश्वव्यापी मङ्गल स्वरूप माना गया है। स्वस्तिक, सु और अस्ति में क्तिच् प्रत्यय जुड़कर बना है।[8] इसकी व्युत्पत्ति स्वस्ति करोति इति स्वस्तिक: के

Scanned with OKEN Scanner

रूप में की जाती है अर्थात् जो कल्याण को करता है, वह स्वस्तिक है। यास्क ने भी इसे कल्याण और मङ्गल देने वाला माना है।[9] इसके क्षेम, पुण्य और आशीष भी पर्याय के रूप में बताये गये हैं।[10] वैदिक, श्रमण, ईसाई, यहूदी आदि भी प्रतीक के रूप में स्वस्तिक का अङ्कन मङ्गल स्वरूप और कल्याणकारी मानते हैं। जैनधर्म के अनुसार स्वस्तिक की चार रेखाएं चार गतियों व चार अनुयोगों की प्रतीक मानी गई हैं। इस परम्परा में तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ का चिह्न भी स्वस्तिक माना गया है। श्वेताम्बर जैन परम्परा में शीतलनाथ का स्वस्तिक चिह्न है। जिस स्वस्तिक पर तीन बिन्दु अङ्कित किये रहते है, वह रत्नत्रय का द्योतक है तथा रत्नत्रय के ऊपर अर्द्धचन्द्र का अङ्कन सिद्धशिला का प्रतीक है।

अष्ट मङ्गल द्रव्य

स्वल्प अन्तर के साथ अष्ट मङ्गल द्रव्यों की तीनों सम्प्रदाओं में मान्यता है। समवसरण की गन्धकुटी के प्रथम द्वार पर ये सुशोभित होते हैं।

जैन दिगम्बर[11]

1. भृंगार,
2. कलश,
3. दर्पण,
4. ताल व्यजन (पंखा)
5. ध्वजा,
6. चमर,
7. छत्र और
8. सुप्रतिष्ठ (साथिया)

अष्ट प्रातिहार्य

समवसरण के मध्य भगवान् अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त होते हैं।

1. सिंहासन
2. अशोक वृक्ष
3. छत्रत्रय
4. भामण्डल
5. दिव्यध्वनि
6. सुरपुष्प वृष्टि
7. चंवर और
8. देवदुन्दुभि

जैन श्वेताम्बर अष्ट मङ्गल द्रव्य

1. स्वस्तिक
2. श्रीवत्स
3. नन्द्यावर्त
4. वर्धमानक
5. भद्रासन
6. कलश
7. दर्पण
8. मीन युगल

Scanned with OKEN Scanner

बौद्ध परम्परा में अष्टमङ्गल

1. अनन्तिम गॉठ, 2. रत्न धर 3. कमल का पुष्प 4. स्वर्णमयी मीन युगल, 5. छाता, 6. शंख, 7. धर्मचक्र और 8. विजय पताका

बौद्ध परम्परा के चीनी बौद्ध अष्टमङ्गल

1.चक्र, 2. शंख, 3. छत्र, 4. ध्वजा, 5. पद्म 6. कलश, 7. मत्स्य, 8. श्रीवत्स

वैदिक परम्परा में अष्टमङ्गल

1. सिंह, 2. बैल, 3. हाथी, 4. कलश, 5. पंखा, 6. ध्वजा 7. भेरी 8. दीप (बृहन्नन्दिकेश्वरपुराण)

वैदिक परम्परा के लोक मङ्गल

1. ब्राह्मण 2. गाय 3. अग्नि 4. चांदी, 5. घी, 6. सूर्य 7. जल और 8. राजा (नारदीयमनुस्मृति)

भरत चक्रवर्ती के16 स्वप्न

1. तेईस सिंह।
2. एक सिंह के पीछे मृग समूह।
3. घोड़े पर हाथी चढ़ रहा है।
4. हंस को कौवे सता रहे।
5. दो बकरे सूखे पत्ते खा रहे।
6. हाथी पर बन्दर बैठा है।
7. भूतप्रेत नाच रहे हैं।
8. तालाब मध्य में खाली है।
9. रत्नराशि धूल में मिली हुई है।
10. कुत्ता पूजन का द्रव्य खा रहा है।
11. एक तरुण बैल को देखा।
12. शाखा सहित चन्द्रमा को देखा।
13. युगल बैल दहाड़ रहे हैं।
14. सूर्य मेघों से घिरा हुआ है।
15. पत्ती रहित सूखे वृक्ष को देखा।
16. सूखे जीर्ण पत्ते को देखा।

चन्द्रगुप्त के 16 स्वप्न

1. सूर्य मण्डल का अस्त।
2. कल्पवृक्ष की शाखा टूटी हुई।
3. सीमा उल्लंघन किये समुद्र।
4. बारह फणों का सर्प।
5. देव विमान वापस लौटना।
6. ऊंट पर राजकुमार बैठा है।
7. दो काले हाथी लड़ रहे हैं।
8. महारथ में गोवत्स जुड़े हैं।
9. नग्न स्त्रियां नाच रहीं हैं।
10. स्वर्णपात्र में कुत्ता खा रहा है।
11. जुगुनु चमकते देखा।
12. सूखे सरोवर में दक्षिण दिशा में थोड़ा सा जल देखा।
13. रज में कमल खिलता देखा।
14. छिद्र सहित चन्द्रमा देखा।
15. हाथी पर बन्दर बैठा हुआ देखा।
16. रत्नराशि रज में देखी।

Scanned with OKEN Scanner

तीर्थङ्कर की माता के 16 स्वप्न

1. गर्जना करने वाला सफेद हाथी।
2. सफेद बैल।
3. सिंह।
4. लक्ष्मी का कलशाभिषेक।
5. लटकती फूलों की दो मालाएं
6. पूर्ण चन्द्रमा।
7. उदय होता सूर्य।
8. सरोवर में क्रीड़ा करते हुए दो मीन।
9. स्वर्णमय दो पूर्ण कलश।
10. पद्म सरोवर।
11. उन्मत्त लहर युक्त समुद्र।
12. रत्नजटित सिंहासन।
13. स्वर्ग का देव विमान।
14. धरणेन्द्र भवन।
15. प्रकाशमान रत्न राशि।
16. धूम रहित प्रखर अग्नि ज्वाला।

त्रिशूल

हिन्दू परम्परा में त्रिशूल शिव, दुर्गा व उनके साधुओं के पास दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध परम्परा में भी बुद्ध मूर्तियों के साथ त्रिशूल का अङ्कन पाया जाता है। जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी त्रिशूल अरहंतों के पास होता है। जैन ग्रन्थों में लिखा है- 'जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नरूपी त्रिशूल के द्वारा मोहरूपी अंधकाररूप असुर के बन्धजड़ को विदारित कर दिया है, जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नय का अन्त कर दिया है ऐसे अरहन्त परमेष्ठी होते हैं।[12] तन्त्र परम्परा में ज्ञान, इच्छा और क्रिया ये तीन शक्तियों की क्रियाशीलता को त्रिशूल कहा गया है। इसमें प्रवेश पाने वाला योगी निरंजन हो जाता है।[13] बौद्ध परम्परा में भी त्रिशूल की ऐसी ही चर्चा की गई है।

श्रीवत्स

जैन, बौद्ध और हिन्दू तीनों परम्पराओं में श्रीवत्स का महत्त्व बताया गया है। श्रीवत्स का शाब्दिक अर्थ लक्ष्मीपुत्र होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने श्रीवत्स का अर्थ रोमावर्त कहकर वक्षस्थल को श्रीवत्स से युक्त बताया है।[14] कुषाणकाल के पश्चात् जैन परम्परा में तीर्थङ्करों के वक्षस्थल पर श्रीवत्स का लाञ्छन पाया जाता है। तत्पश्चात् मूर्तिशिल्प के अनुसार इस परम्परा में जैनमूर्तियों के वक्षस्थल पर इसका अङ्कन अनिवार्य माना गया।[15] जैन परम्परा में यह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यरूप लक्ष्मी का द्योतक माना जाता है। कहीं कहीं पर इसे कैवल्यज्ञान का भी प्रतीक माना गया है।

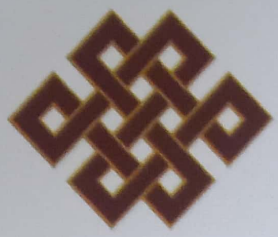

Scanned with OKEN Scanner

तीर्थङ्करों के 108 चिह्नों में श्रीवत्स का उल्लेख पाया जाता है। हिन्दु परम्परा के विष्णुपुराण में श्रीवत्स, को अंगूठे के आकार का सफेद बालों का पुञ्ज कहा गया है। महाभारत में कहा गया है कि यह विष्णु के वक्षस्थल पर भगवान् शंकर के त्रिशूल से बना हुआ चिह्न है।[16] बौद्ध परम्परा में माङ्गलिक चिह्नों में इसकी गणना कीगई है।

सिद्धभूमि-ईषत्प्राग्भारधरा व सिद्धशिला

त्रिलोकसार में अष्टमभूमि के मध्य भाग में चांदी व सुवर्ण के समान ईषत्प्राग्भार है। आठवीं पृथिवी सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक विमान के ध्वजदण्ड से बारह योजन मात्र ऊपर स्थित है। यह क्षेत्र उत्तान अर्थात् ऊर्ध्व मुख वाले धवल छत्र के समान आकार से सुन्दर और पैंतालीस लाख योजन प्रमाण विस्तार से युक्त है। उसका मध्य बाहुल्य आठ योजन और अन्त में एक अंगुल मात्र है। अष्टम भूमि में स्थित सिद्धक्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है।[17]

सिद्धक्षेत्र पर तनुवातवलय में अष्टगुण सहित अनन्त सुख से सन्तुष्ट सिद्ध रहते हैं। वह सिद्धक्षेत्र अन्त में सीधे रखे गये पात्र के समान है।[18] तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में ईषत्प्राग्भार आठवीं पृथ्वी को नहीं कहा गया है, उसके मध्य में स्थित निर्वाणक्षेत्र को 'ईषत्प्राग्भार' से अभिहित किया गया है।

ब्रह्मदेवसूरि ने लिखा है कि व्यक्ति रूप से पुनः भगवान् अर्हन्त ही मुक्ति को प्राप्त सिद्धात्मा बने हैं, उन्हीं को परब्रह्म, विष्णु व शिव के नामों से अभिहित किया जाता है। लोक के अन्त में जहां वे मुक्तात्माएं ठहरती हैं, उस सिद्धभूमि को ही ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, शिवलोक प्रभृति नामों से भी अभिहित किया जाता है।[19]

नंदीश्वर द्वीप

'यह मध्यलोक का अष्टम द्वीप है। इस द्वीप में 16 वापियां, 4 अंजनगिरि, 16 दधिमुख और 32 रतिकर नाम के कुल 52 पर्वत हैं। प्रत्येक पर्वत पर एक एक चैत्यालय है। प्रत्येक अष्टाह्निका पर्व में अर्थात् कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ मास के अन्तिम आठ आठ दिनों में देव, सभी द्वीपों में जाकर तथा मनुष्य अपने मन्दिरों व चैत्यालयों में उस द्वीप की स्थापना करके, अत्यधिक भक्तिभाव से इन 52 चैत्यालयों की पूजा करते हैं।[20]

मेरु/पंचमेरु

जैन समाज में पंचमेरु की पूजा प्रचलित है। पंचमेरु के अनेक जिनालय भी पाये जाते हैं। 'पंचमेरु' शब्द से स्पष्ट होता है कि जहां पांच मेरु हों। अमरकोष में कहा गया है 'मेरुसुमेरुहेमाद्रिरत्नसानुसुरालयः' अर्थात् मेरु सुमेरु पर्वत का ही पर्यायवाची है। 'यह मध्यलोक का सर्वप्रधान पर्वत है। विदेह क्षेत्र के बहुमध्य भाग में स्थित स्वर्णवर्ण व कूटाकार पर्वत है। यह जम्बूद्वीप में एक, धातकी खण्ड में दो, पुष्करार्ध द्वीप में दो पर्वत है।

Scanned with OKEN Scanner

इस प्रकार कुल पांच सुमेरु हैं। इसमें से प्रत्येक पर 16-16 चैत्यालय हैं। इस प्रकार पांचों मेरु के कुल 80 चैत्यालय हैं।[21] सुमेरु पर्वत के शिखर पर स्थित पाण्डुकशिला तीर्थङ्करों के जन्माभिषेक का आसनरूप माना जाता है, इसलिए जैन संस्कृति में इसका अत्यधिक महत्त्व है। जैनाचार्यों ने लिखा है कि 'जम्बूद्वीप के मध्यभाग में एक लाख योजन ऊंचा सुदर्शन नाम का महामेरु शोभायमान है। वह मेरु पर्वत चूलिका रूपी मुकुट से शोभायमान है, भगवान् तीर्थङ्कर के जन्माभिषेक से वह अभिषिक्त है, देवों से सुशोभित है, जिनालय ही उसके उत्तम हार हैं, वन रूपी वस्त्रों से वह मनोहर जान पड़ता है, वेदिका रूपी करधनी पहने हुए है और वावड़ी रूपी नाभि से वह सुन्दर मालूम होता है, पीठिका ही उसके पैर हैं। कूट रूपी हाथों से सुशोभित है।[22]

'मेरु पर्वत गोल आकार का होता है। इसके तल भाग में भद्रशाल नाम का प्रथम वन है, जो पांच भागों में विभक्त है- भद्रशाल, मानुषोत्तर, देवरमण, नागरमण और भूतरमण। इस वन की चारों दिशाओं में चार जिनभवन हैं। भद्रशाल वन से 500 योजन ऊपर मेरु पर्वत की कटनी पर द्वितीय वन स्थित है। इसके दो विभाग हैं- नन्दन और उपनन्दन। यहां भी वन की चारों दिशाओं में चार जिनभवन हैं। नन्दन वन से 62500 योजन पर सुमेरु पर्वत का तीसरा सौमनस वन स्थित है, इसके भी दो विभाग हैं- सौमनस औ उपसौमनस। यहां पर भी चारों दिशाओं में चार जिनभवन हैं। सौमनस वन से 36000 योजन ऊपर मेरु के शीर्ष पर चौथा पाण्डुक वन है। इसके भी दो भेद हैं- पाण्डुक और उपपाण्डुक। इस वन की भी चारों दिशाओं में चार जिनभवन हैं। इसी प्रकार द्विगुणित द्विगुणित आकार वाले क्रमशः धातकीखण्ड में 32 और पुष्करार्धद्वीप में 32 जिनभवन हैं। इस प्रकार पांचों मेरु के कुल 80 चैत्यालय हैं।[23] तीनों द्वीपों के ये पांचों मेरु समानान्तर रूप में अवस्थित हैं।

धर्मचक्र

भारतीय संस्कृति में धर्मचक्र का अत्यधिक महत्त्व है। जैन, बौद्ध और हिन्दु तीनों परम्पराओं में इसके उल्लेख पाये जाते हैं। धर्म की निरन्तर गति के रूप में प्रवर्तन कराने का सूचक जैन संस्कृति में 'धर्मचक्र कहलाता है। केन्द्रविन्दु से युक्त वर्तुलाकार धर्मचक्र में कहीं एक हजार आरे, कहीं चौबीस, कहीं आठ, कहीं बारह, कहीं सोलह आरे पाये जाते हैं। हजार आरों से युक्त धर्मचक्र देवोपनीत होता है, जो तीर्थङ्कर के केवलज्ञान होने पर प्रगट होता है। इसके दो रूप दिखाई पड़ते हैं- एक धर्मचक्र भगवान् के आगे चलता है, जो इन्द्रियविजय का

Scanned with OKEN Scanner

प्रतीक है। दूसरा धर्मचक्र समवसरण की पीठिका पर शोभायमान होता है। महापुराण में बताया गया है कि धर्मचक्र अधर्म पर विजय का और धर्म प्रभावना का द्योतक है।[24] आठ आरे वाला धर्मचक्र अष्टमंगल व अष्टकर्मों के नाश का प्रतीक है। बारह आरे वाला धर्मचक्र द्वादशाङ्गों का प्रतीक है। चौबीस आरे वाला धर्मचक्र चौबीस तीर्थङ्करों का प्रतीक है। सोलह आरे वाला धर्मचक्र सोलहकारण भावनाओं का प्रतीक है। चतुर्थ शताब्दी का तांबे से बना हुआ चौसा (बिहार) का, मथुरा, देवगढ़ आदि से प्राप्त धर्मचक्र जैनसंस्कृति में पुरातत्व की दृष्टि से उनकी प्राचीनता सिद्ध करते हैं। कुछ विद्वान् सारनाथ के अशोक स्तम्भ के धर्मचक्र के 24 आरों में 24 तीर्थङ्करों की उद्भावना को स्वीकार करते हैं।[25]

जैन ध्वज

तीर्थङ्कर महावीर स्वामी के 2500 वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष में सभी जैन परम्पराओं द्वारा एक मत से पंचरंगी ध्वज स्वीकृत किया गया था, जो उस समय की महान् देन है। ध्वज के पांच रंग अणुव्रत और महाव्रतों के द्योतक हैं। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जैन परम्परा में इस प्रकार को पंचरंगी ध्वज का क्या इतिहास है? इसकी प्राचीनता के विषय में ये तर्क दिये जाते हैं कि प्रतिष्ठा तिलक में आये 'विजया पंचवर्णाभा पंचवर्णमिदं ध्वजम्'[26]

Scanned with OKEN Scanner

से ध्वजा के पंचरंगों का समर्थन होता है। परन्तु उक्त कथन विभिन्न विभिन्न देवियों के ध्वजों के रंगों के लिए प्रयुक्त हुआ है[27], जो निम्न प्रकार है-

क्रम	देवी का नाम	देवी का वर्ण	देवी का ध्वज	ध्वज की दिशा
1	पीतप्रभा	पीत	पीत	पूर्व
2	पद्मा	पद्म	पद्म	आग्नेय
3,	मेघमालिनी	कृष्ण	कृष्ण	अवाची
4	मनोहरा	हरित्	हरित्	नैऋत्य
5	चन्द्रमाला	श्वेत	श्वेत	प्रतीची
6	सुप्रभा	नील	नील	वायव्य
7	जया	श्याम	श्याम	उदीची
8	विजया	पंचवर्ण	पंचवर्ण	अध:,उर्ध्व, ईशान

प्रतिष्ठा तिलक में यह स्पष्ट उल्लेख है कि ध्वजा का वर्ण श्वेत होता है और उस पर छत्र, पद्मवाहन, पूर्णकलश, स्वस्तिक आदि चिह्न होते हैं। ध्वज के पंचरंगी होने की पुष्टि के लिए श्वेताम्बर ग्रन्थ मानसार का भी उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है जिसमे पांच परमेष्ठियों की प्रतिमाओं के रंग क्रमश: स्फटिक, अरुणाभ, पीताभ, हरिताभ और नीलाभ माने गये हैं।

Scanned with OKEN Scanner

पञ्च कल्याणक

जैन संस्कृति में पञ्च कल्याणकों का अत्यधिक महत्त्व है। सांसारिक दु:खों से मुक्ति हेतु भक्तों के द्वारा जब किसी नवीन मन्दिर में तीर्थङ्कर की प्रतिमा की स्थापना की जाती है तब उस प्रतिमा को विभिन्न संस्कारों द्वारा पूज्य बनाया जाता है, जिसे प्रतिष्ठा व पञ्च कल्याणक कहते हैं। तीर्थङ्करों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष ये पांच कल्याणक होते हैं। संसार, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पांच संकटों का आश्रय स्थान है। संसार में परिभ्रमण कराने वाले इनके दु:ख स्वरूप पर चिन्तन करने और उससे मुक्त होने के मार्ग पर निरन्तर आगे बढते रहने पर सांसारिक दु:खों से हमेशा के लिए मुक्ति प्राप्त हो जाती है। तीर्थङ्करों का नियम से पंच परावर्तन दु:ख रूप संसार से मुक्ति रूप कल्याण होने से देव, मनुष्यादि सभी कल्याणकों के पाचों अवसरों पर आकर उत्सव मनाते हैं और पूजा करते हैं।

अयोध्या नगरी की रचना, तीर्थङ्करों के जन्म के छह माह पूर्व से रत्नों की वर्षा, शरीर के दश अतिशय, आदि पञ्च कल्याणकों की अवधि में अनेक आश्चर्यजनक कार्य होते हैं। केवलज्ञान होने पर केवली का परम औदारिक शरीर पृथ्वी से पांच हजार धनुष प्रमाण उपर चला जाता है। उनके उपदेश के लिए सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर विक्रिया द्वारा समवसरण की रचना करता है। जैन संस्कृति में मन्दिर वास्तु, देव शिल्प, स्थापत्य और कला का आधार समवसरण को माना जा सकता है। मन्दिर और मूर्तियों के परिकर में जो शिल्पाङ्कन होता है, उसका ज्ञान समवसरण की रचना से हो जाता है।

समवसरण

जिस सभा के माध्यम से अर्हन्त भगवान् का उपदेश होता है, उस सभा का नाम समवसरण है।[28] महापुराण के अनुसार समस्त सुर, असुर आदि आकर दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं, इसलिए गणधरादि देवों ने इसकी सार्थकता को ध्यान रखकर समवसरण नाम को उचित बताया है।[29] तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ के अनुसार अवसर्पिणी काल में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का समवसरण बारह योजन विस्तार वाला था तथा बाद के तीर्थङ्करों का इससे आधा आधा योजन कम होता चला जाता है। उत्सर्पिणी काल में वह विस्तार इसके विपरीत होता है। विदेह क्षेत्र में समवसरणों का विस्तार प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के समान है।[30]

समवसरण की रचना का जैन ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन पाया जाता है। समवसरण रचना के सामान्य स्वरूप में सामान्य भूमि, सोपान, विन्यास, बीथी, धूलिसाज (प्रथम कोट), चैत्यप्रासाद भूमियां, नृत्यशाला, मानस्तम्भ, वेदी, खातिका भूमि, वेदी, लताभूमि, साल (दूसरा कोट), उपवनभूमि, नृत्यशाला, वेदी, ध्वजभूमि, साल (तृतीय कोट), कल्पभूमि, नृत्यशाला, वेदी, भवनभूमि, स्तूप, साल (चतुर्थ कोट), श्रीमण्डप, ऋषि आदि गण, वेदी, पीठ, द्वि पीठ, तृतीय पीठ और गन्धकुटी होते हैं।[31]

Scanned with OKEN Scanner

समवसरण की सामान्य भूमि गोल होती है। समवसरण तक पहुंचने के लिए प्रत्येक दिशा में बीस बीस हजार सीढियां होती हैं। समवसरण के बाह्यभाग में रत्नों की धूलि से निर्मित परकोटे को धूलिसाल कहते हैं। धूलिसाल के बाहर स्वर्णनिर्मित खम्भों के अग्रभाग पर अवलंबित चार तोरणद्वार होते हैं। धूलिसाल के भीतर चैत्य प्रासाद भूमियां होती हैं। प्रथम चैत्य प्रासाद भूमि के बहु मध्यभाग में चारों बीथियों के बीचोंबीच गोल मानस्तम्भ भूमि होती है इत्यादि ग्रन्थों में समवसरण रचना का विस्तार से वर्णन किया गया है।[32]

समवसरण के बारह कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य,असंज्ञी,अनध्यवसाय से युक्त, सन्देह से संयुक्त, और विपरीतताओं से सहित जीव नहीं होते है। गन्धकुटी के मध्य विराजमान तीर्थङ्कर अष्टप्रातिहार्यों से युक्त होते हैं। केवलज्ञान के दश अतिशय होते हैं,-चार सौ कोस भूमि में सुभिक्षता, गगनगमन, अप्राणिबध, भुक्त्भाव, उपसर्गाभाव, चतुरास्यत्व, सर्वविद्येश्वरता, अच्छायत्व, अपक्ष्मस्पन्दत्व और सम प्रसिद्ध नखकेशत्व। हरिवंशपुराण में तीर्थङ्करों के चौदह देवकृत अतिशय गुणों का वर्णन किया गया है। वे निम्न प्रकार हैं- सर्वार्धमागधी भाषा, सम्पूर्ण विरोधी जीवों में मैत्री, दशों दिशाओं का निर्मल रहना, आकाश निर्मल रहना, वृक्षों में सब ऋतुओं के फलपुष्पादि का आना, एक योजना तक पृथ्वी का दर्पणवत् निर्मल रहना, तीर्थङ्कर भगवान् के विहार करते समय चरणों के नीचे सुवर्ण कमलों का रहना, आकाश में जय जय ध्वनि, मन्द सुगन्धित वायु बहना, गन्धोदक वृष्टि होना, भूतल दर्पणवत् स्वच्छ रहना, सम्पूर्ण जीवों को परम आनन्द, तीर्थङ्कर प्रभु के आगे धर्मचक्र चलना और अष्टमङ्गल द्रव्य प्रभु के सामने रहना।[33]

इस प्रकार जैन सांस्कृतिक विरासत का क्षेत्र विशाल है। यहां मात्र साकेतिक रूप से उनका वर्णन किया गया है।

Scanned with OKEN Scanner